आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

प्रज्ञा प्रतीति परिणाम

मुनि महेन्द्रकुमार 'प्रथम'

मूल्य : तीन रुपये
प्रथम संस्करण : १९७२
प्रकाशक : कमलेश चतुर्वेदी
प्रवन्धक : आदर्श साहित्य संघ
चूरू (राजस्थान)
आर्थिक सौजन्य : स्वर्गीय मीठालाल मरलेचा की स्मृति में
द्वारा जशोदावाई मीठालाल मरलेचा
खिड़की-पूना
मुद्रक : रूपाभ प्रिंटर्स, दिल्ली—३२

PRAGYA : PRATEETI : PARINAM
by Muni Mahendra Kumar 'Pratham' Rs. 3·00

प्राक्कथन

महावीर ने कहा : ज्ञ परिज्ञा से जानो तथा प्रत्याख्यान परिज्ञा से असत् को छोड़ो। उन्होंने अन्य स्थान पर दूसरे शब्दों में कहा : 'बुज्झिजंति तिउट्टिज्जा'—जानो और तोड़ो। इसी वाणी का विकास ज्ञान, दर्शन और चारित्र के रूप में हुआ। साधक इस त्रिवेणी के माध्यम से ही साधना में अग्रसर होता है। वह ज्ञान से जानता है, दर्शन (श्रद्धा) से आश्वस्त होता है और चारित्र के माध्यम से ज्ञान—अनुभूतियों को क्रियान्वित कर परिणाम तक पहुंचता है। इसी प्रक्रिया की अभिव्यक्ति मेरे शब्दों में 'प्रज्ञा : प्रतीति : परिणाम' है।

साहित्य के क्षेत्र में भी अनुभूतियों की प्राणवत्ता, आस्था की सघनता तथा परिणति की अनिवार्यता अपेक्षित होती है। इस त्रिवेणी के अभाव में साहित्य अर्थात्मा-शून्य केवल शब्दों का विलोड़न मात्र रह जाता है। मुझे यह अभिप्रेत नहीं है। इसीलिए लिखने के लिए मैंने कभी लिखा हो, ऐसा स्मरण नहीं है। जब-जब अनुभूतियों की प्रगाढ़ता हुई, एक अव्यक्त प्रेरणा मिली और उसी समय कुछ लिखा। परमाराध्य युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी से मैंने यही पाया है। आचार्य प्रवर उस साहित्य-संरचना को महत्त्व नहीं देते, जिसके पीछे अनुभूतियों की प्रखरता न हो। मेरे लिए इस मंत्र के उद्गाता आचार्यश्री तुलसी ही हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में समय-समय पर लिखे गए निबन्धों का संकलन है। दर्शन, इतिहास, साहित्य, संस्मरण आदि अनेक पहलुओं का इसमें

स्पर्श है तथा अनेक जटिल प्रश्नों का समाधान भी। कहना चाहिए, मेरी प्रज्ञा की प्रतीति के बाद का परिणाम है। आशा है, यह परिणाम मेरे तक ही सीमित नहीं रहेगा, अपितु दूसरे भी इसमें तद्वत् सहभागी होंगे।

आचार्यश्री तुलसी स्रष्टा हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष; दोनों प्रकार के सर्जन में अग्रणी हैं। इसीलिए स्थूल और सूक्ष्म, जड़ और चेतन—कोई भी उनकी सृष्टि से अस्पृष्ट नहीं है। यह सर्जन आनन्तरिक भी है और पारम्परिक भी। इसीलिए यह क्रम-गुणित होकर समाज को रचनात्मक दिशा देता है। मुझे गौरव है कि मैंने आचार्यश्री तुलसी से आनन्तरिक तथ पारम्परिक; दोनों ही प्रकार की प्रेरणाएं पायी हैं।

अणुव्रत-परामर्शक मुनिश्री नगराजजी, डी० लिट्०ने आचार्यवर के पुनीत संकेत से मुझे अनेक दिशाओं में अग्रसर किया। उनका सतत मार्गदर्शन मेरी क्रियाशीलता के विकास में विशेष निमित्त बना। मुनि विनयकुमारजी 'आलोक', मुनि महेन्द्रकुमारजी 'द्वितीय' तथा मुनि अभयकुमारजी साहित्यिक कार्यों में अनेक प्रकार से मेरे सहयोगी रहे हैं। यह सब आचार्य प्रवर के आशीर्वाद का ही सुफल है।

मेरी सफलताओं का उत्स युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी हैं। उन्होंने मेरी कृतियों को अपनाया, बढ़ाया और समाज-हिताय अर्पित किया। यह अनुभूति शब्द-गम्य नहीं, केवल आत्म-गम्य ही है।

आचार्यश्री तुलसी ने मुझे प्रज्ञा प्रदान की। उससे मुझे स्व की प्रतीति हुई। प्रज्ञा और प्रतीति की इस युति ने मुझे साहित्यिक परिणाम तक पहुंचाया। यही 'प्रज्ञा : प्रतीति : परिणाम' है।

७ मई, १९७२ —मुनि महेन्द्रकुमार 'प्रथम'
लखनऊ

साधना के विकास की प्रक्रिया

यंत्र-निरपेक्ष ज्ञान

यंत्रों के माध्यम से मानव ने इस युग में अनेक आश्चर्य देखे हैं और निकट भविष्य में और भी वह देखेगा, इसकी पुष्टि आज का विज्ञान कर रहा है। प्रश्न होता है, क्या इन सबको बिना किसी वाह्य साधन के भी जाना जा सकता है ? विज्ञान इस वारे में मौन है और वह इसे असंभव भी मानता है। अध्यात्म इसके उत्तर में आगे आता है। उसका दावा है, वाह्य साधनों से निरपेक्ष रहकर व्यक्ति अणु व ब्रह्माण्ड के समग्र प्रतरों को जान सकता है। यह सब एक कल्पित कहानी जैसा लगता है, किन्तु, जिन्होंने इस दिशा में यत्किंचित् भी प्रयत्न किया है, उन्होंने इसका प्रत्यक्ष अनुभव भी किया है। जितना वड़ा संसार इन चर्म चक्षुओं से दिखाई दे रहा है, उससे भी वड़ा संसार मनुष्य के अन्दर है, यह वहुत सारे व्यक्ति न जानते हैं और न जानने की कोई उत्सुकता ही उनमें होती है।

एक साधक इस रहस्य को सुगमता से जान सकता है। उसकी प्रक्रिया होती है, वाहर से अन्दर की ओर प्रवेश करना। वाह्य विविधताओं को जानने की उत्सुकताओं को समेटकर केवल एक अन्तर को जानना, जिसे आत्मा के नाम से पुकारा जाता है। इस साधना में तत्पर होने के वाद आंखें खुली होने के वावजूद भी वह वाह्य दृश्यों को ग्रहण नहीं करेगा, कान खुले होने पर भी वह शव्दों की ध्वनि से प्रभावित नहीं होगा, शरीर से सम्वद्ध होने पर भी वह सुख-दुःख की अनुभूतियों से उपरत रहेगा। इसी

प्रकार मानस का अस्तित्व होने पर भी उसका व्यापार सर्वथा गौण हो जाएगा।

एक स्थान पर रहकर हज़ारों मीलों तक ध्वनि तथा चित्रों का प्रसारण किया जा सकता है तथा हज़ारों मीलों की दूरी से प्रसारित ध्वनि व चित्रों का ग्रहण भी यंत्रों के माध्यम से किया जा सकता है। विज्ञान इस खोज में भी है कि दो हज़ार, ढाई हज़ार वर्ष पूर्व महावीर, बुद्ध या अन्य किसी महापुरुष ने जिस वाणी का उच्चारण किया था, उसका भी वर्तमान में यंत्रों द्वारा ग्रहण किया जा सके। यह अनहोनी बात नहीं है। इसमें भी सम्भवता है। किन्तु, आश्चर्य यह हो सकता है कि विना यंत्र के माध्यम से ध्वनि तथा चित्रों का प्रसारण तथा ग्रहण और साथ ही हज़ारों वर्ष पूर्व उच्चारित ध्वनियों का तद्वत् ग्रहण। विचारों का प्रेषण, प्रभाव डालना तथा प्रतिकूल को भी हज़ारों मील दूर बैठे अनुकूल बना लेना अध्यात्म-साधना के द्वारा सहज सम्भव है।

भारत में इस प्रकार की साधना से सम्पन्न श्रमण भी थे, जिनके शरीर से स्पर्शित वायु से दूर-दूर तक के हज़ारों व्यक्ति निरोग हो जाते थे। जिनके श्लेष्म, थूक, स्वेद तथा मल-मूत्र में भी दिव्य अणु होते थे, जो स्पर्शमात्र से ही रोग को समाप्त कर आरोग्य प्रदान कर देते थे। इससे भी अधिक वे उस व्यक्ति को अलौकिक कान्ति भी प्रदान कर सकते थे। उनके हाथों में ऐसी दिव्य लब्धि (शक्ति) भी होती थी, जिनके छू जाने पर भोज्य पदार्थ कभी खूटते न थे। वे अपने में इतने समर्थ होते थे कि एक ही प्रक्रिया से सैकड़ों मील दूर के भू-भाग में अवस्थित मनुष्यों, पशुओं तथा मकानों को जला सकते थे और जलते हुओं को क्षणमात्र में बुझा भी सकते थे वे। अपने मानसिक चिन्तन मात्र से किसी पर अनुग्रह भी कर सकते थे और कोप भी। दुष्काल के क्षेत्र में उनके पहुंचने पर सुकाल हो जाता था और अतिवृष्टि तथा अनावृष्टि के प्रकोप से उस प्रदेश की जनता की सुरक्षा भी हो जाती थी।

ऐसे भी श्रमण होते थे, जो बीज-बुद्धि तथा कोष्ठ-बुद्धि की क्षमता भी रखते थे। बीज-बुद्धि से तात्पर्य है, किसी भी प्रसंग का संकेत पाते ही उसके आधार पर उससे सम्बन्धित समग्र विषय को भली-भांति जान

लेना। कोष्ठ-बुद्धि वे होते थे, जो एक बार ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर अपने मस्तिष्क कोष्ठक में उसे सदा के लिए सुरक्षित कर लेते थे। अवधान विद्या बीज-बुद्धि तथा कोष्ठ-बुद्धि दोनों से सम्बद्ध है।

विचार-रहितता

जिज्ञासा यह है, यह सब कुछ कल्पनामात्र ही है या यथार्थ भी। यदि यथार्थ है, तो उसे करने की प्रक्रिया क्या है? आज का प्रबुद्ध व्यक्ति भूतकाल की उपलब्धियों पर ही गौरव नहीं कर सकता। वह वर्तमान की कसौटी पर प्रत्येक पहलू को कसना चाहता है। उत्तर भी स्पष्ट है, जो भूतकाल में होता था, वह आज भी हो सकता है तथा होता भी है। इसके लिए निर्विकल्प समाधि, निर्बीज समाधि, निरुद्ध अवस्था तथा शैलेशीकरण की ओर प्रयत्नशील होना होता है। जब तक मस्तिष्क विचारों से भरा रहता है, वह भौतिक रहता है और बहिर्मुखता में ही लीन रहता है। वहां आत्म-भाव की स्थिति नहीं होती। इसीलिए कहा गया है:

शनैः शनैः रुपरभेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेद्॥

धीरे-धीरे बुद्धि द्वारा गृहीत मन को वहां से निवृत्त करे और आत्मस्थ होकर कुछ भी सोचने की क्रिया को छोड़ दे। यहां केवल जागरूकता रहेगी, किन्तु सक्रियता तथा निष्क्रियता; दोनों से दूर। इस स्थिति तक पहुंचने पर आत्मा का चित्त के साथ सम्बन्ध टूट जाता है और वह अपनी शुद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेती है। इसका ही स्पष्ट रूप होता है:

स्वस्मिन्, स्वरूपं पश्यन्ति योगिनः परमात्मनः।

अपने में ही अपना मौलिक स्वरूप देखा जाता है। भगवान् महावीर ने इसीलिए साधक को प्रेरणा दी थी:

संपिक्खए अप्पगमप्पएणं

आत्मा से आत्मा को देखो। इस अभ्यास के लिए न तो बाह्य उपकरणों की अपेक्षा है और न नेत्रों की ही। ध्यान की यह एक प्रक्रिया

है और इस ओर बढ़ने के साधन हैं: १. कषाय-विजय, २. इन्द्रिय-नियमन, ३. मानसिक-नियमन, ४. समत्व की वृद्धि और इन सबके द्वारा एकाग्रता की सहज उपलब्धि।

निर्बीज समाधि की भूमिका

बहुधा देखा जाता है, मानव महत्त्वाकांक्षाओं का पिण्ड होता है। वह दूसरे के पराभव पर अपनी प्रगति को खड़ा करना चाहता है। प्रगति सभी को वांछनीय है, पर वह प्रगति सबके लिए ही घातक होती है, जो दूसरों की अवनति पर खड़ी होती है। यहीं से कषायों की उद्दीप्ति, इन्द्रियों की स्वैराचारिता, मन की उच्छृंखलता तथा विषमता की विष-बेल बढ़ने लगती है, जो एकाग्रता को केवल खण्डित ही नहीं करती, अपितु समाप्त ही कर देती है। आत्म-भाव दूर होता चला जाता है तथा बहिर्मुखता बढ़ने लगती है। दूसरे शब्दों में कहना चाहिए, व्यक्ति प्रकृति के रहस्यों में उलझकर अल्पकालिक वर्तमान तक सीमित हो जाता है और आत्म-स्वरूप, जिसमें कि गत, अनागत तथा वर्तमान; तीनों ही सुरक्षित होते हैं, भूल जाता है। इसलिए अपेक्षा है, व्यक्ति सबसे पहले अपने विचारों के आरोह तथा अवरोह को सम करे। तब उसका पहला चरण विषयों (वासनाओं) की विरक्ति की ओर बढ़ेगा और कषायाग्नि को शान्त कर साम्य-भावना का विकास करेगा। साम्य-भावना एकाग्रता (ध्यान) की उपादान बनती है और एकाग्रता साम्य-भावना की। दोनों अन्योन्य सम्बद्ध होकर आत्मा की निष्प्रकम्प अवस्था को उत्पन्न करेंगी और यही वह अवस्था होगी, जो शैलेशीकरण या निर्बीज समाधि की भूमिका होगी।

वैराग्य तथा अभ्यास

विचार-रहित होने के लिए वैराग्य तथा अभ्यास की अपेक्षा होती है। बहुधा देखा जाता है, व्यक्ति पूरे दिन सांसारिक कार्यों में उलझा रहता है और केवल दस-पांच मिनट ध्यान लगाकर आध्यात्मिक बनना चाहता है। क्या यह सम्भव है कि दस-पांच मिनट में वह वेग आ जाएगा जिससे वह तेईस घंटे और पचास मिनट तक होनेवाली क्रियाओं की प्रतिक्रिया से अप्रभावित रह सकेगा। दोनों ओर समय का सन्तुलन

आवश्यक होगा। अर्थात् प्रतिदिन कम से कम डेढ़-दो घंटे अनवरत समय लगाना होगा तथा अपनी वृत्तियों की वासनाओं को क्षीण करना होगा। यह क्रम ज्यों ही चालू होगा, मन की स्थिरता तथा एकाग्रता के बढ़ने का प्रसंग स्वतः बनता चला जायेगा।

व्यग्रता, अधैर्य, असहिष्णुता आदि भी एकाग्रता में महान् बाधक बनते हैं। इनको मिटाने के लिए तपस्या का अभ्यास किया जाता है, शास्त्रों का पारायण किया जाता है, नाना जप, स्वाध्याय आदि का भी अनुष्ठान किया जाता है, किन्तु इन सबका जो मूल आधार है, उसकी ओर सजगता नहीं बरती जाती है। वह है, मन की शान्त वृत्ति। उभरने वाले विकार—प्रधान विचारों का माध्यस्थ भावना के सहज अवलंबन से उपशमन किया जाये। विकार और संस्कार ; दोनों ही उभरते रहते हैं, किन्तु संस्कार स्वाभाविक रहें तथा विकारों का अस्तित्व क्षीण होता चला जाए। मन को शान्त करने का यह उत्तम तरीका है।

आहार की सात्विकता, आसन की नियामकता तथा प्राणायाम की विशिष्टता की भी मन की शान्तता में अनिवार्यता है। जब तक चेतन (आत्मा) का अनुबन्ध जड़ (शरीर) के साथ है, तब तक बाह्य साधन-सामग्री का उपयोग भी किया जाएगा, किन्तु उसके प्रवाह में अस्तित्व की समाप्ति या विलीनीकरण नहीं किया जाएगा। तात्पर्य है, शरीर को खुराक दी जाएगी, पर, इतनी नहीं कि वह उच्छृंखल होकर मन तथा इन्द्रियों को भी अनियंत्रित कर दे। आहार की परिणति को संयमित गति प्रदान करने के लिए आसन होता है और उससे विशिष्ट उपलब्धि प्राणायाम के द्वारा होती है। इसलिए आहार, आसन व प्राणायाम के प्रति भी जागरूकता रहने की अपेक्षा है। तात्पर्य है, विचार-रहित होने के लिए वैराग्य का विकास तथा सतत अभ्यास अपेक्षित होगा।

साधना का केन्द्र

बहुधा यह भी सुना जाता है कि व्यक्ति कार्यरूप क्रिया को पकड़ लेता है और होने रूप परिणाम को भूल जाता है। करने की व्यग्रता फल की उपलब्धि के लिए साधक को आतुर करेगी, जबकि क्रिया का परिणाम

केवल आवरण का विलय है। आत्मा में अनन्त शक्तियां विद्यमान हैं, किन्तु गहरे आवरण के कारण उनका आभास स्वयं को नहीं होता। जो गुप्त हैं, उन्हें पाने के लिए वह इधर-उधर चक्कर लगाता है। फलस्वरूप वह कोरा ही रहता है। अपेक्षा यह है कि शान्त-मन होकर अन्तर् के प्रतरों को भेदने का प्रयत्न करे। उसे कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है। उसे अपने ही में स्थित होना है। साधना का केन्द्र बाहर नहीं है, वह आत्मा में है। पर वह बहुधा इस रहस्य को भूल जाता है और छोटी-छोटी इकाइयों में सिमटकर संसार को उतने तक ही मान लेता है। साधना में यही वृत्ति अवरोध उत्पन्न करती है और सिद्धियों को हस्तगत नहीं होने देती।

सिद्धि की कामना

कुछ व्यक्ति सिद्धियों की प्राप्ति की कामना लेकर साधना में प्रवृत्त होते हैं। वे पुनः-पुनः यह लेखा-जोखा लेते रहते हैं, हमने अब तक कितना किया और उससे कितना पाया, अवशिष्ट कितना है? यह वृत्ति भी सिद्धियों को दूर ढकेल देती है। जो व्यक्ति सिद्धि को पाना चाहता है, सिद्धि उससे दूर भागती है और जो व्यक्ति उससे मुंह मोड़ता है, वह उसके पीछे-पीछे दौड़ती है। अपनी ही छाया को आगे कर जो व्यक्ति उसे पकड़ने के लिए उतावला होता है, छाया उसकी पकड़ में नहीं आती। किन्तु उसी छाया को यदि पीठ पीछे कर दिया जाता है, तो वह उसके पीछे लगी रहेगी और एक क्षण भी उसका साथ नहीं छोड़ेगी। सफलता का लेखा-जोखा इतना ही है कि व्यक्ति मन की शान्त अवस्था को अपने द्वारा ही मापता रहे तथा उसकी अपूर्णताओं को स्वयं के द्वारा ही भरता रहे।

अस्वास्थ्य भी मन की शान्त वृत्ति में रुकावट उत्पन्न करता है। किन्तु वह होता क्यों है? शुद्ध आत्मा में अस्वास्थ्य नहीं होता तथा शरीर भी अस्वस्थता को लेकर ही निर्मित नहीं होता। किन्तु जब दोनों का एक-दूसरे के साथ अवांछनीय संयोग होता है, तब दोनों विकृत हो जाते हैं और अस्वास्थ्य को उत्पन्न कर देते हैं। विचारों में उद्वेग का

भरना शारीरिक क्रियाओं को अस्त-व्यस्त करता है और वहीं से रोग की उत्पत्ति हो जाती है। फिर रुग्ण-शरीर मन को व्यथित करता है और साधना में विघ्न उपस्थित होता चला जाता है। यह परम्परा अविच्छिन्न क्रम से चलती हुई एक-दूसरे को प्रभावित करती रहती है। इस परम्परा की समाप्ति तब होती है, जब सबसे पहले मानसिक उद्वेगों को शान्त किया जाता है।

श्रद्धा और मैत्री

चेतन एक इकाई है। किन्तु यह इकाई इतनी विचित्र है कि स्व के अतिरिक्त अन्य किसी का अनुभव ही नहीं करती। पर, इस स्व की इयत्ता भी नहीं है। वह अपने में समस्त प्राणि-समुदाय को अटा लेती है। यहां तक कि यह जड़-जगत् के प्रति भी अपनी समता को खण्डित नहीं होने देती। आश्चर्य इस बात का है कि चेतन ने जब अपने स्व का विस्तार आरम्भ किया, तो वह परिवार, समाज या राष्ट्र तक आकर सीमित हो गया। कहना चाहिए, इस युग में तो उसकी सीमा और भी संकुचित हो गई। मैं, बीबी और मुन्ना, इसके आगे उसे कोई संसार दिखाई नहीं देता है। जो भी सचेतन प्राणी दिखाई देते हैं, उनका वह एक जड़ से अधिक मूल्य मानने को भी तैयार नहीं है। जिस तरह से मूल्य देकर वस्तु को खरीदा जाता है तथा उसका उपभोग किया जाता है, उसी प्रकार वह मनुष्य का भी अपने लिए उपभोग चाहने लगा है। यह मानव का जड़ीकरण है और स्व की विस्तृति का अनुचित उपयोग। वस्तुतः तो तेरे और मेरे का प्रश्न ही नहीं है। जो कुछ है, वह सबका है। स्व भी सबका है। यह समर्पण भावना है। यह अपने इष्ट के प्रति भी होती है और मानव के प्रति भी। इष्ट के प्रति समर्पित होने वाली भावना श्रद्धा बन जाती है और मानव के प्रति व्यक्त होने वाली मैत्री। साधना के विकास और मन की शान्त वृत्ति के लिए अनिवार्य रूपेण आवश्यक है कि मैत्री भावना का विकास हो और मानव तथा मानव के बीच क्षेत्रीय सीमा, रंग-भेद, जाति-भेद, भाषा-भेद आदि के जो द्वैध हैं, उन्हें समाप्त किया जाए। फिर विश्व एक परिवार है, यह कल्पना साकार होगी।

कहना चाहिए, ऐसा होने पर व्यक्ति को स्व के अतिरिक्त अन्य कुछ भी दिखाई नहीं देगा। वस, इस साधना का विकास हो और समस्त प्राणियों की एक दृष्टि, एक चिन्तन तथा एक प्रवृत्ति वने और उसकी आधार-भित्ति मैत्री पर खड़ी हो।

अवधान विद्या में प्रगति के लिए मन की शान्त वृत्ति तथा मैत्री का विकास परम आवश्यक है। इन दो पद्धतियों के अवलम्वन से ही सफलता के कगार तक पहुंचा जा सकता है। मुझे यह कहते हुए परम प्रसन्नता होती है कि युग-प्रधान आचार्यश्री तुलसी ने इस प्रकार की मैत्री का एक महान् मंत्र दिया और समग्र संसार को भाषा, संस्कृति, जाति तथा क्षेत्रीय मतभेदों से दूर कर एक करने का महान् उपक्रम आरम्भ किया है। उसकी परिणति के लिए एक 'अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री केन्द्र' की स्थापना शीघ्र ही की जा रही है। मैं आशा करता हूं, विभिन्न भाषा-भाषी तथा विभिन्न देशों के निवासी उपस्थित वन्धु उस योजना में साथ होंगे और मानवीय भावना के विकास में एक-दूसरे से आगे वढ़ेंगे।

मुझे इसकी भी परम प्रसन्नता है कि आज प्राचीन इतिहास को दुहराया जा रहा है और नया इतिहास वनाया जा रहा है। मुख्य निमित्त वन रहे हैं इसमें डा० जी० लेसनर। जर्मन तथा जैन धर्म का वहुत पुराना सम्वन्ध रहा है। डा० मैक्सम्यूलर, डा० हर्मन याकोवी, डा० ल्युमैन, डा० सुव्रिग, डा० वेवर, डा० आल्सडोर्फ, डा० ग्लासेनाफ, डा० रोथ, डा० पीशेल आदि ने जैन इतिहास, दर्शन तथा पुरातत्व के वारे में शोध कर जैन परम्पराओं को जो नया मोड़ दिया है, वह चिर-स्मरणीय रहेगा।

डा० हर्मन याकोवी जव दूसरी वार भारत आए थे, तेरापंथ के अष्टम आचार्य पूज्यपाद आचार्यश्री कालूगणी से उन्होंने भेंट की थी और जैन आगमों के कुछ स्थलों के वारे में उनके साथ गम्भीर चर्चाएं की थीं। इस प्रकार डा० याकोवी के शिष्य डा० ग्लासेनाफ ने आचार्यश्री कालूगणी के उत्तराधिकारी युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी से भेंट तथा चर्चा कर उन सम्वन्धों को विशेष प्रगाढ़ किया था। आप सवके वीच अवधान विद्या के कुछ प्रयोग कर तथा उसके सैद्धान्तिक पक्ष पर गम्भीर

आलोचना-प्रत्यालोचना करते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। मैं मानता हूं, प्रगाढ़ मैत्री की ओर हमारा एक और चरण बढ़ा है, जो मानव-मात्र के कल्याण का निमित्त बनेगा।[1]

---

१. २४ अप्रैल, १९७१ को मैक्सम्यूलर भवन, नई दिल्ली द्वारा आयोजित विदेशी विद्वानों की सभा में अवधान-प्रयोग के अवसर पर दिया गया भाषण।

स्मृति-विकास की प्रक्रिया

भारतवर्ष के श्रमण-निर्ग्रन्थों और ऋषियों ने योग-साधना पर विशेष बल दिया है। इन्द्रियों का संयम, मन का निग्रह और वाणी के निरोध को अध्यात्म का मुख्य अंग माना है। किन्तु यह अध्यात्म ऐसा नहीं है, जो मनुष्य को जीवन से उपरत करे। भगवान् महावीर ने कहा है : '**जे अज्जत्थं, जाणई, से वहिया जाणई**'—जो अध्यात्म को जानता है, वह बाह्य को जानता है। इससे यह निष्कर्ष सहज ही निकलता है कि भारतीय ऋषियों का चिन्तन केवल पारलौकिक ही नहीं रहा है। उन्होंने जीवन के उभय पक्षों को साथ रखकर ही सोचा, पाया और समाज को दिया।

ग्रहण, धारणा और उद्बोधन

अवधान विद्या उस साधना की एक विशेष उपलब्धि है, जो स्मृति के द्वार से प्रविष्ट होकर आत्मा तक पहुंचती है। पांचों इन्द्रियां और मन, ज्ञान के मुख्य साधन हैं। किसी भी पदार्थ के देखने, सुनने, स्पर्श करने, सूंघने और चखने के साथ ही मन का उसमें लगाव होता है, जिसे 'ग्रहण' कहा जाता है। आत्मा का जब उसके साथ घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित हो जाता है, तब उसे 'धारणा' कहा जाता है। जब वही ज्ञान तत्काल, कुछ समय बाद या लम्बे समय बाद दुहराया जाता है, तब वह 'उद्बोधन' होता है। हम प्रतिदिन सैकड़ों वस्तुओं, मनुष्यों और प्राकृतिक दृश्यों को देखते हैं, परिचित और अपरिचित सैकड़ों शब्द सुनते हैं; किन्तु स्मृति में कुछ नहीं रह पाता। इसका तात्पर्य है कि 'ग्रहण' के बाद ज्ञान का धारणा में

परिणमन नहीं हो सका। इस प्रकार धारणा के विना प्रतिदिन दर्शन और श्रवण होता है और वह अपार्थक ही चला जाता है। विना एकाग्रता के धारणा सम्भव नहीं होती। जब कार्यरत एक इन्द्रिय को मन के साथ योजित कर किसी विशेष स्थान पर केन्द्रित कर देते हैं, स्वतः ही वह ग्रहण के बाद धारणा बन जाता है। किन्तु, धारणा में भी स्थायित्व तव आता है, जव एकाग्रता के साथ हमारी कल्पना-शक्ति और अनुस्यूत हो जाती है। अर्थात् ज्ञान के ग्रहण के साथ अपने परिचित विचारों या तत्सम अन्य उपकरणों के साथ गृहीत पदार्थ या शब्द का उचित संयोजन करना होगा, जो किसी भी परिस्थिति में स्मृति से ओझल न हो सके। स्मृत प्रकरण स्वतः ही समय पर उद्वोधन का रूप ले लेता है।

तीन साधन

स्मृति की विलक्षणता में मानसिक एकाग्रता, कल्पना-शक्ति की प्रवणता और बुद्धि की स्थिरता—ये तीन साधन अनिवार्य हो जाते हैं। महर्षि पतंजलि ने चित्त की पांच अवस्थाएं मानी हैं—१.क्षिप्त, २.मूढ़, ३.विक्षिप्त, ४.एकाग्र और ५.निरुद्ध। क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त—ये अवस्थाएं विकृत मन की हैं। एकाग्र मन तव होता है, जव चिन्तन के लिए एक ही अवलम्वन होता है। निरुद्ध अवस्था में मानसिक स्थिरता के लिए किसी भी प्रकार के अवलम्वन की आवश्यकता नहीं होती। यह अत्युत्कृष्ट स्थिति है, जिसे योग-निरोधक मुनि ही पा सकते हैं। एकाग्रता की स्थिति सर्वसाधारण से लेकर विशिष्ट साधकों तक से सम्बन्ध रखती है। एकाग्रता स्मृति का उपादान वनती है और कल्पना की पटुता और बुद्धि की सहज स्थिरता निमित्त। किन्तु यह निमित्त भी उपादान के समक्ष पहुंच जाता है।

आज के युग में प्रत्येक व्यक्ति से यह सुना जा सकता है कि स्मरण-शक्ति वहुत कमजोर हो गई है। प्रातः सोचा गया कार्य सायं विस्मृत हो जाता है। इस अभाव की पूर्ति के लिए मनुष्य ने अपनी स्मृति को बढ़ाने के लिए विशेष उपक्रम नहीं किया। केवल एक साधन डायरी का आरम्भ किया। जिस दिन जो कार्य किया जाना है, उसे उस दिन के कोष्ठक में

लिख दिया जाता है। किन्तु, ऑफिस जाते हुए डायरी घर रह जाए और घर जाते हुए ऑफिस में रह जाए, तो उस स्थिति में क्या वीते ? भुलक्कड़ के लिए यह भी तो एक समस्या होती है कि वह जहां जाए, उससे पहले डायरी को याद रखे।

एक समय : एक कार्य

मनुष्य वहुधन्धी है। उसके पास समय वहुत थोड़ा है और काम वहुत अधिक। वह एक साथ वहुत सारे कामों को निपटाने की सोचता है। यही उलझन उसकी विस्मृति का कारण वनती है। एक कार्य को करते हुए दूसरे कार्य को मस्तिष्क में न लाया जाए और सम्वन्धित विपय के अतिरिक्त और कुछ न सुना जाए, तो कोई कारण नहीं है कि स्मृति में कमजोरी आए। एक रील पर फोकस ठीक कर चुकने पर जव एक ही फोटो खींचा जाता है, तो वह चित्र अच्छा आता है, किन्तु जव एक ही रील पर एक चित्र खिच चुकने पर दूसरा चित्र खींचा जाएगा, तो कोई भी चित्र ठीक नहीं वन पाएगा। इसी प्रकार यह हमारा मस्तिप्क है। एक साथ वहुत सारे कार्य सामान्यतया ग्रहण नहीं किए जा सकते। मस्तिष्क की तुलना इसी प्रकार टेपरिकार्डर से की जा सकती है।

अवधान का तात्पर्य है, सावधानीपूर्वक धारण करना। यह अवस्था ग्रहण के वाद की है। धारणा में यह स्वभावतः ही अनुस्यूत रहता है कि गृहीत पदार्थ को कल्पना के ताने-वाने के साथ सम्यक्तया अधिष्ठित कर स्थिरता की तिजोरी में उसे सजा दिया जाए। धारणा के वाद स्थिरता में यदि न्यूनता होती है, तो किसी भी समय विपर्यय या उसकी समाप्ति भी हो सकती है। फिर वहां हाथी और नींवू में कोई अन्तर नहीं रह जाता। एक आदमी किसी अपरिचित देश में गया। वहां उसने 'हाथी' और 'नींवू', ये दोनों चीजें पहली वार देखीं। दोनों नामों को उसने अपनी संकेत-पुस्तिका (डायरी) में अंकित कर लिया। वहुत वर्पों के वाद उसके गांव में हाथी आया। गांव के लोग सैकड़ों की संख्या में एकत्र होकर उसे विस्मयपूर्ण दृष्टि से देखने लगे। उस व्यक्ति ने कहा—"यह प्राणी मेरे लिए नया नहीं है। मैंने पहले भी इसे देखा है और इसका नाम भी मेरी

संकेत-पुस्तिका में अंकित है।" अज्ञात वस्तु को जानने की उत्कंठा सहज होती है। लोगों ने पूछा—"भाई! इसका नाम हमें शीघ्र वताओ।" चट से वह संकेत-पुस्तिका लाया। उसमें लिखा था—'नींवू', 'हाथी'। वह असमंजस में पड़ गया; "क्योंकि उसकी वुद्धि स्थिर नहीं थी। वह सोचने लगा—नींवू कौन-सा था और हाथी कौन-सा? लोगों से वोला—वन्धुओ! इस पशु का नाम या तो नींवू है या हाथी।"

मानसिक एकाग्रता के उपाय

प्रश्न यह है, मनुष्य धारणा और स्थिरता को कैसे वढ़ाए? इन्द्रियां ज्ञान की साधन हैं और इन्द्रियां ही विस्मृति की साधन। अन्तर्मुखता और वहिर्मुखता इसमें विशेष सहायक होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति स्मृति-प्रगाढ़ वनना चाहता है, किन्तु इन्द्रियों को अन्तर्मुखता की ओर नहीं; अपितु वहिर्मुखता की ओर ही वढ़ाता है। यहीं से स्मृति-नाश का आरम्भ हो जाता है। धारणा और स्थिरता की शक्ति वढ़ाने के लिए सवसे पहली आवश्यकता इन्द्रियों की अन्तर्मुखता की है, जिसे आत्म-संयम कहा जाता है। मन की शिथिलता संयम की घातक होती है। यही धारणा और स्थिरता पर आघात करती है। ऋषियों ने इसके लिए एक व्यवस्थित पद्धति दी है। उसके अनुसार सवसे पहले अपने मस्तिष्क को विचार-शून्य और चिन्ता-मुक्त करने की आवश्यकता होती है। किसी व्यक्ति के प्रति लगाव, शारीरिक तनाव, मानसिक दुराव, व्यवसाय या कार्यालय के काम को निपटाने का उतावलापन आदि धारणा और स्थिरता को पूर्ण नहीं होने देते। इस स्थिति को गीताकार ने—**न किंचिदपि चिन्तयेत्** कहा है। अस्वास्थ्य भी इसमें वाधक होता है। उन्मुक्त और एक स्थान-स्थित नेत्र तथा मुंह से समुच्चारित होने वाली आर्ष-सूक्तियां मानसिक एकाग्रता की विशेष हेतु वनती हैं।

इस युग में संयम का अभाव विशेषतः खटकता है। विचार-स्वातन्त्र्य के नाम पर इन्द्रियों को भी इतनी स्वतन्त्रता मिल गई है कि मन की एकाग्रता समूल ही भंग हो चुकी है। स्मृति की प्रखरता के इच्छुक व्यक्ति को सर्वप्रथम संयम का साधक वनना होगा। आचार्यश्री तुलसी ने मन

की चंचलता के नियम के लिए अणुव्रत-आन्दोलन का एक विशेप मार्ग दिया है। आचार्यश्री तुलसी के समक्ष एक ओर जहां शैलेशी-अवस्था प्राप्त ऋषियों का आदर्श है, वहां दूसरी ओर आज के मनुष्य का विक्षिप्त मानस भी है। इसके लिए मैं यह कह सकता हूं कि वे महर्पि जनक के एक हाथ पर जैसे चन्दन का विलेपन था और दूसरे हाथ पर जलती हुई अग्नि; उसी तरह स्वयं समाधिस्थ रहते हुए विक्षिप्त-चेता मनुष्य के रोग का निवारण करते जा रहे हैं। इसीलिए उनका घोप है—**संयमः खलु जीवनम्**। संयम ही जीवन है और असंयम ही मृत्यु। संयम का यह मार्ग जीवन की अनेक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता हुआ मनुष्य को स्मृति-प्रगाढ़ भी बनाता है। अपेक्षा यही है, संयम जीवन के प्रत्येक व्यवहार का अंग बने।

सभी महानुभाव यह चाहते ही होंगे कि उनकी स्मृति विशेप प्रखर हो। वकील, पत्रकार और विशेषतः योजनाओं से सम्बद्ध व्यक्तियों की यह चाह और अधिक हो सकती है। मेरा इस अवसर पर यही विशेपतः कहना है, संयम के द्वारा मानसिक एकाग्रता प्राप्त करें और उसके आधार पर अपनी स्मरण-शक्ति को बढ़ाएं।[1]

---

१. १४ फरवरी, १९७१ को उपराष्ट्रपति डॉ० गोपालस्वरूप पाठक की अध्यक्षता में आयोजित अवधान-समारोह के अवसर पर दिया गया भापण।

क्या स्याद्वाद अर्धसत्य या संशय है ?

भगवान् श्री महावीर ने व्यवहार के क्षेत्र में अहिंसा और अपरिग्रह का अवतरण कर उस समय के धार्मिकों को नई दृष्टि दी थी। दर्शन के क्षेत्र में आग्रह के परिहार तथा जीवन के अनेक उलझनभरे प्रश्नों के समाधान के लिए उन्होंने स्याद्वाद की एक विशेप पद्धति दी। विद्वानों ने भगवान् महावीर के अहिंसा और अपरिग्रह के विचारों को समझने में तो दक्षता दिखलाई, किन्तु आश्चर्य है, स्याद्वाद का हार्द पकड़ पाने में वे लड़खड़ा गए। सत्य को पहचानने की समग्र दृष्टि के रूप में स्याद्वाद को न लेकर अर्धसत्य या अपूर्ण सत्य की प्राप्ति का साधन मात्र मानने के लिए ही वे तैयार हो सके। कुछेक विद्वानों ने स्याद्वाद को संशयवाद तक की संज्ञा भी दी। उनका निरूपण रहा, "स्याद्वाद का अधिकारी सदैव यही प्रतिपादन करता है कि 'यह भी हो सकता है, यह नहीं भी हो सकता है'। इसीलिए वह संशय में झूलता रहता है।" उन विद्वानों में ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार श्री शंकराचार्य, भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० एस० राधाकृष्णन्, सुप्रसिद्ध सांख्यिकी विद्वान् प्रो० महलोनोविस, कविवर डा० रामधारीसिंह 'दिनकर' आदि हैं। इन्हीं विद्वानों का अनुसरण करते हुए अनेक विद्वान् उसी विवेचन को अपने साहित्य में तथारूप ही दुहराते रहे हैं। सद्यः प्रकाशित 'गांधी-युग-पुराण' का स्कन्ध पांच-खण्ड दो देखा, तो यह धारणा विशेष पुष्ट हुई। डा० सेठ गोविन्ददास तथा डा० ओमप्रकाश शर्मा ने इस ग्रन्थ में स्याद्वाद का संशयवाद के रूप में विवेचन कर उन्हीं प्राचीन विचारों की पुनरावृत्ति करने का प्रयत्न किया है तथा

कविवर श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' ने इसी ग्रन्थ की भूमिका में उसकी पुष्टि करने का प्रयत्न किया है। विद्वान् स्याद्वाद की यथार्थता तक पहुंच सकें तथा अपने निर्णय पर पुनः एक वार चिन्तन कर सकें, यह प्रस्तुत निवन्ध का अभिप्रेत है।

सत्य क्या है ?

सत्य क्या है, यह वहुत वार अज्ञात ही रहता है, क्योंकि उसका छोर वहुधा आग्रही व्यक्तियों के हाथों में रहा है। वे एक दृष्टि से कथन करते हैं और उसके अन्य अंशों को सर्वथा नकारते हैं। इसी के साथ यह भी प्रश्न उठता है, क्या सत्य और असत्य के वीच अर्धसत्य या अपूर्ण सत्य का भी कोई वर्गीकरण होता है? यहीं से विवाद का आरम्भ हो जाता है और सत्य कहीं छूट जाता है। वास्तविकता यह है कि सत्य अनुभूति-गम्य है, शव्द-गम्य नहीं। जव अभिव्यक्ति के लिए उसे शव्दों का चोग़ा पहनाया जाता है, वह साकार हो उठता है और एक व्यक्ति द्वारा अधिगृहीत सत्य का दूसरे व्यक्ति द्वारा भी परिणमन कर लिया जाता है। पर, सत्य की परिपूर्णता को शव्दों का सामरस्य अपने में अटा पाने में कभी सक्षम नहीं होता। वह उसके विवक्षित अंश को ग्रहण करता है और अन्य अंशों से कभी नकारता नहीं है। उदाहरणार्थ, सम्मुखीन व्यक्ति का चेहरा देखकर उसके रंग-रूप आदि के वारे में कथन किया जाता है, पर उसके पृष्ठवर्ती दूसरे वाजू का किसी भी परिस्थिति में निषेध नहीं किया जाता। यही सत्य है। यदि निषेध किया जाए, तो जिसके लिए विधान किया जा रहा है, वह स्वयं में ही अस्तित्वहीन हो जाता है। फिर 'यह सत्य है', यह कथन ही अपने आप में निरर्थक हो जाता है। तात्पर्य है, निरपेक्ष कथन होता ही नहीं है और यही सापेक्ष-पद्धति स्याद्वाद की अनिवार्यता कराता हुआ सत्य के आन्तरिक केन्द्र तक पहुंचता है। यही कारण है, अर्धसत्य या अपूर्ण सत्य की कोई अभिधा वनती ही नहीं।

स्याद्वाद क्या है ?

वहुधा देखा जाता है, जीवन का व्यवहार विधि-निषेध के युगल

पार्श्वों के बीच से गुजरता है। दार्शनिक शब्दों में इसे सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य, वाच्य-अवाच्य आदि के रूप में निरूपित किया गया है। व्यवहार में विधि-निषेध का क्रम चलता है। प्रश्न रहता है, विरोधी युगलों को एक ही पदार्थ में कैसे निरूपित किया जा सकता है ? जिस पदार्थ में जिस सत्ता का अधिग्रहण किया जाता है, क्या उसी पदार्थ में कोई प्रतिषेध भी हो सकता है ? अस्तित्व और नास्तित्व का यह स्वीकार तथा निषेध अपने में जटिल पहेली बनता है और यहीं से संशय का आरम्भ हो जाता है। भगवान् महावीर ने **'सिया अत्थि, सिया णत्थि'**—'अपेक्षा-विशेष से वह है और अपेक्षा-विशेष से वह नहीं है'—इस संक्षिप्त वाक्य के आधार पर इस उलझन को सुलझाया है। उन्होंने कहा है: सापेक्ष व निरपेक्ष उभय स्वरूपात्मक वस्तु-स्वभाव को ग्रहण करना ही यथार्थ दृष्टि है। किसी भी पदार्थ का आत्यन्तिक निषेध तथा आत्यन्तिक विधान नहीं होता। जिस अपेक्षा में वह है, उस अपेक्षा में उसका पूर्ण प्रतिनिधित्व है और जिस अपेक्षा में वह नहीं है, उस अपेक्षा में वह है ही नहीं।

प्रत्येक पदार्थ में अनन्त स्वभावों की सत्ता है और वह उस पदार्थ में किसी भी अन्य स्वभाव की प्रतिरोधिनी नहीं है। इसीलिए विरोधी युगलों का सहवर्तित्व भी सहज सम्भाव्य है। अग्नि जीवन-दायक तत्त्व भी है और प्राण-नाशक भी। यदि पाचन-क्रिया के रूप में उसका उपयोग है, तो वह जीवन-दायक है और उसका (अग्नि का) जो उग्र रूप है, वह प्राण-नाशक भी। पानी व्यक्ति के लिए संजीवनी भी है और डूबनेवाले के लिए घातक भी। एक प्रकार के वस्त्र सर्दी में उपयोगी हैं, तो वे ही वस्त्र गर्मी में निरुपयोगी भी। एक प्रकार का भोजन एक व्यक्ति के लिए बलवर्धक है और दूसरे व्यक्ति के लिए वही भोजन नाना व्याधियां उत्पन्न करनेवाला भी। रेखा छोटी भी हो सकती है और बड़ी भी। यदि उस रेखा के पास में बड़ी रेखा खींच दी जाती है, तो वह छोटी हो जाती है और छोटी रेखा खींच दी जाती है, तो वही रेखा बड़ी भी हो सकती है। तात्पर्य है, प्रत्येक पदार्थ, कार्य और व्यक्ति में सापेक्षता है; क्योंकि वह देश, काल आदि की सीमाओं से घिरा रहता है।

विरोधी युगलों का सहभाव

पदार्थ मात्र में अस्तित्व व नास्तित्व जैसे विरोधी युगलों का युगपत् सहभाव सहसा व्यक्ति को चक्कर में डाल देता है। इसका कारण यह है कि व्यक्ति का चिन्तन सदैव निरपेक्ष होकर चलता है, जबकि उसका प्रत्येक व्यवहार अपेक्षा के साथ प्रतिक्षण बंधा रहता है। व्यवहार और चिन्तन की इस खाई का अनुभव करने से व्यक्ति चूक जाता है। स्याद्वाद के साथ से यहीं आकर उसका सम्बन्ध टूट जाता है और उलझन के साथ संशय का अनायास आरम्भ हो जाता है। यह सर्वसम्मत मान्यता है कि व्यक्ति निरपेक्ष होकर उसी समय अपने अस्तित्व को स्थिर रख सकता है, जबकि उसकी चित्सत्ता सर्वथा विकसित होकर परिपूर्ण बन जाती है। जब तक इस स्थिति में नहीं पहुंचा जाता है, तब तक वह सापेक्षता को गौण करने का मात्र बहाना कर सकता है, पर उसका यथार्थ में निर्वाह नहीं हो सकता। और जब सापेक्ष स्थिति जीवन के लिए अनिवार्य बन जाती है, तो अस्तित्व-नास्तित्व का संघर्ष न रहकर सहभाव हो जाता है। उदाहरणार्ण, जिस समय जिस पदार्थ के अस्तित्व-पक्ष की विवक्षा की जा रही है, उसी पदार्थ के इतर पक्षों का नास्तित्व भी तो अभिवाच्य नहीं होता है। केवल मुख्य-गौण का ही वहां प्रसंग होता है।

भगवान् श्री महावीर ने प्रत्येक पदार्थ में प्रतिक्षण उत्पाद और व्यय का प्रतिपादन किया है। उत्पाद और व्यय का यह नैरन्तरिक सहभावी क्रम पदार्थ की दीर्घकालीन पर्यालोचना में हेतुभूत होता है तथा उसकी जीर्णता और नवीन उत्पत्ति के रूप में स्पष्ट होकर उलझन भी समाप्त कर देता है। इसी तात्पर्य को स्पष्टता से इस प्रकार कहा जा सकता है, यदि प्रतिक्षण जीर्णता नहीं होती है, तो केवल वही अन्तिम क्षण कौन-सा था, जिसमें वह सर्वथा जीर्ण हो गया। वही पदार्थ जब दूसरे पदार्थ में बदलता है, तो वह क्षण भी कौन-सा होगा, जहां से उसमें नवीन परिवर्तन का आरम्भ हुआ था। जीर्णता और नवीनता में एक ही क्षण की परिकल्पना यथार्थ नहीं है। लकड़ी पड़ी-पड़ी कुछ ही वर्षों में मिट्टी में बदल जाती है, तो क्या यह कहें कि वह एक ही क्षण में काष्ठत्व की पर्याय

को छोड़कर मृन्मयता में बदल गई है ? प्रत्येक पदार्थ में उत्पाद और व्यय (नाश) का क्रम अनवरत सहभावी चलता है और यही विरोधी युगलों का सह चंक्रमण स्वीकार करता है। उत्पाद और व्यय की प्रवहमान परम्परा में पदार्थ का ध्रुवीकरण सुनिश्चित है, जो पदार्थ को सत् से असत् में बदलने नहीं देता।

अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम

अनुभूति और अभिव्यक्ति दो पृथक्-पृथक् कार्य तथा परिणाम हैं। अनुभूति एकांशग्राही व सर्वांशग्राही के रूप में उभयपक्षी होती हैं। अभिव्यक्ति सदा ही एकांश का पक्ष प्रस्तुत करती है। ज्ञान के अनन्त पर्यव हैं और व्यक्ति अपनी निर्मल वृत्ति से यथासम्भव उन्हें अधिगृहीत करता है। अभिव्यक्ति शब्दों के माध्यम से चलती है; अतः अनुभूति की पूर्णता तथा अधिकता होने पर भी वह एक अंश को ही प्रस्तुत करने में सक्षम होती है। यही एकांशता सापेक्षता की अनिवार्यता अनुभूत कराती है; क्योंकि जिस अपेक्षा से विवक्षा की जाती है, उसी अपेक्षा-विशेष से ही ग्रहण करते समय सत्य की उपलब्धि होती है; अन्यथा सत्य के परिपार्श्व में ही भटकाव होता है। वक्ता अपनी समस्त अनुभूतियों को एक साथ व्यक्त नहीं कर सकता और जितनी वह व्यक्त करता है, उतनी का सुननेवाला अधिग्रहण नहीं कर सकता। जितना भी ग्रहण होता है, वह अपेक्षा के साथ संयुक्त होकर ही होता है; अतः सत्य का पल्ला अपेक्षा के साथ ही सदा बंधा रहता है और यही माध्यम सशक्त होता है।

स्याद्वाद और सापेक्षवाद

भगवान् महावीर ने आपेक्षिक सिद्धान्त के रूप में स्याद्वाद का निरूपण किया और वर्तमान में विज्ञान के क्षेत्र में डा० अल्बर्ट आइन्स्टीन ने सापेक्षवाद के रूप में उसका विस्तार किया। स्याद्वाद का विस्तार जड़-चेतन तक ही अधिकांशतः सीमित रहा, वहां डा० आइन्स्टीन ने उनके साथ आकाश और काल को योजित कर उसी सिद्धान्त को विशेषतः आधुनिक शैली से प्रस्तुत किया। समीक्षक की पैनी दृष्टि से देखने पर

ज्ञात होता है, महावीर का स्याद्वाद का सिद्धान्त डा० आइन्स्टीन के द्वारा ही विवेचित होकर विज्ञान के क्षेत्र में आया है। दोनों ही सिद्धान्तों की अद्भुत समानता विस्मयकारक है। यदि स्याद्वाद के अधिकारी आचार्य जड़-चेतन, आकाश-काल के अनन्तर धर्म (गतिशीलता का माध्यम) और अधर्म (स्थितिशीलता का माध्यम); इन दोनों तत्त्वों को और संयुक्त कर विवेचन करते हैं, तो षड्द्रव्यों के विवेचन की नवीन शृंखला तो आरम्भ होती ही है, साथ ही स्याद्वाद के क्षेत्र में अभिनव चिन्तन की परम्परा भी प्रादुर्भूत होती है।

स्याद्वाद को संशयवाद या अर्धसत्य के रूप में विवेचित करने का जिन विद्वानों ने साहस किया, आश्चर्य है, सापेक्षवाद के प्रति उनका उक्त मन्तव्य नहीं बना, जबकि दोनों के निरूपण में शाब्दिक अन्तर के अतिरिक्त अन्य कुछ भी मौलिक अन्तर नहीं है।

गलती क्यों हुई ?

सहज प्रश्न उभरता है, बड़े-बड़े विद्वानों द्वारा स्याद्वाद के विवेचन में गलती कैसे हुई ? इसके कुछ कारण हैं। स्याद्वाद शब्द का निर्माण 'स्याद्' और 'वाद', इन दो शब्दों की समन्विति से हुआ है। स्याद् अव्यय है और इसके कई अर्थ हैं। सम्भावना, विधान, प्रश्न आदि के अतिरिक्त 'कथंचित्, अपेक्षा विशेष, कोई एक दृष्टि, किसी एक धर्म (स्वभाव) की विवक्षा' आदि अर्थ भी होते हैं। किन्तु, आश्चर्य है, विद्वानों का चिन्तन केवल सम्भावनात्मक अर्थ तक ही सीमित रहा और उन्होंने इसी अर्थ के आधार पर स्याद्वाद का संशयवाद के रूप में निरूपण करने का प्रयत्न किया।

शंकराचार्य के युग में शास्त्रार्थ का दौर विशेष चलता था और एक आचार्य दूसरे आचार्य के उपहास के लिए भी प्रस्तुत रहते थे। स्याद्वाद को संशयवाद के रूप में उपहास-पात्र बनाने का कल्पित अस्त्र प्राप्त कर वे उसका प्रयोग करने से कैसे चूक सकते थे ?

भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० एस० राधाकृष्णन् तथा प्रो० महलोनोबीस उपहास-परम्परा से सर्वथा दूर हैं, किन्तु, शंकराचार्य के सम्भावनात्मक

अर्थ की धुरी से वे भी दूर नहीं हट पाए और उसी विवेचन को शब्दान्तर से अपनी पुस्तकों तथा लेखों में दुहराते रहे। भारत में गहरे और स्वतन्त्र अनुसंधान की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति अल्प है और पूर्व खोजों को ही अपने विवेचन में दुहराने की अधिक। यही कारण है, कविवर डा० रामधारीसिंह 'दिनकर', डा० सेठ गोविन्ददास आदि भी इसके अपवाद नहीं रह सके और उन्हीं भूलों को उन्होंने ज्यों का त्यों दुहराया। उन्हें उस त्रुटि का आभास तक भी नहीं हुआ।

डा० दिनकर तो इससे भी आगे बढ़ गए हैं। उनका कहना है—"जैन धर्म मानता है कि सत्य को पहचानने का कोई निश्चित आधार नहीं है। अतएव हमें चाहिए कि हम अपने सिद्धान्त के आसपास संशय को मंडराते रहने दें। सच्चा अहिंसक मनुष्य वह है जो बराबर यह सोचता रहता है कि संभव है, मेरा मानना गलत हो और विरोधी की मान्यता ही ठीक हो। हम सभी लोग विरोधियों को शंका की दृष्टि से देखते हैं। अहिंसक व्यक्ति की विशेषता यह है कि वह अपने पर भी शंका करता है। इस मतवाद को जैन धर्माचार्य अनेकान्तवाद कहते हैं।"[1] लगता है, डा० दिनकर संशय के प्रवाह में स्वयं बह गए। उन्होंने जैन धर्म और दर्शन को उसके मूल आधारों से जानने का प्रयत्न ही नहीं किया। जिस धर्म के पास सत्य को पहचानने का यदि निश्चित आधार नहीं है तो क्या वह धर्म हो सकता है ? उसका कोई दार्शनिक आधार बन सकता है और क्या वह परम्परा सहस्राब्दियों तक जनता और विद्वानों को आकर्षित कर सकती है? एक सच्चा अहिंसक न तो स्वयं को ही शंका की दृष्टि से देखेगा तथा न वह विरोधियों को ही शंका की दृष्टि से देखेगा। सच्चा अहिंसक वीतराग व आत्मस्थ होता है। जब तक उसका सत्य से साक्षात्कार नहीं होता है, पूर्ण अहिंसक भी नहीं बनता। जब यह अनिवार्यता है, तब अहिंसक के परिपार्श्व में शंका या संशय के मंडराने का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। अनेकान्तवाद सत्य के केन्द्र में होता है। उसकी अनुभूति व अभिव्यक्ति संशयातीत होती है। वह जो भी निरूपण करता है, उसमें आपेक्षिक पूर्णता अवश्यम्भावी है। महावीर ने अविश्वासपरक अहिंसा का कभी भी विवेचन नहीं किया

१. गांधी युग पुराण, स्कन्ध ५ की भूमिका से।

कहना चाहिए, उन्होंने उसे अहिंसा माना ही नहीं।

डा० राधाकृष्णन् जब उपराष्ट्रपति थे, स्याद्वाद के इसी पहलू पर अणुव्रत-परामर्शक मुनिश्री नगराजजी, डी० लिट्० के साथ उनकी गम्भीर चर्चाएं हुई थीं। एक घंटे के चिन्तन के बाद उन्होंने इसे स्वीकार किया कि स्याद्वाद पर अर्धसत्य का मुखौटा लगाना उसके साथ न्याय नहीं है। अब भी अपेक्षा है, भारत के विद्वान् भगवान् महावीर के स्याद्वाद की गहराई में उतरने का उपक्रम करें और प्राचीन त्रुटियों को दुहराने के चिरन्तन अभ्यास से ऊपर उठें, ताकि सत्य का अंकुर किसी भी प्रकार से असत्य की धूलि से आच्छन्न न हो सके।

---

४ अप्रैल, १९७१ को 'नवभारत टाइम्स, दिल्ली और बम्बई' में प्रकाशित।

स्याद्वाद और सापेक्षवाद

साधना के एक उच्च शिखर पर पहुंचने के अनन्तर भगवान् श्री महावीर ने उपदेश देना आरम्भ किया। उनका पहला उपदेश था : **'के अहं आसी, के वा इओ चुइओ पेच्चा भविस्सामि, इह णो सन्ना हवइ'** — मैं कौन था और आगामी जन्म में क्या होऊंगा, यह ज्ञान बहुत सारे व्यक्तियों को नहीं होता। जब तक यह ज्ञान नहीं होता, तब तक साधना में निखार नहीं आ सकता; क्योंकि यह आस्तिक्य का आधार है। भूत और भविष्य की अनभिज्ञता जिज्ञासा और अनास्था दोनों का निमित्त बनती है। अनास्था नास्तिकता को जन्म देती है और जिज्ञासा अनभिज्ञता को समाप्त कर ज्ञान के द्वार खोलती है। यहीं से ज्ञान सम्यग् विशेषण के साथ योजित होकर आगे बढ़ता है। सम्यग् दर्शन तथा सम्यक् चारित्र का भी यही आधार बनता है। ज्ञान चूंकि प्रमाण है और वह सम्यक् के साथ संवलित हो जाता है; अतः यथार्थ निर्णायी होकर प्रमाता के लिए प्रमेय की विविक्तता करता है और वास्तविक प्रमिति को उपस्थित कर देता है। भगवान् श्री महावीर का वह पहला उपदेश एक ओर जहां आस्तिक्य का आधार बना, वहां वही साधना का आदि तथा चरम सहायक बिन्दु भी बना और जैन दर्शन का मुख्य स्तम्भ भी।

प्रयोजन

दर्शन के प्रयोजन में दुःख-जिहासा और सुख-लिप्सा का मुख्य स्थान रहा है। जैन परम्परा का चिन्तन इससे कुछ भिन्न है। वहां मुमुक्षा-भाव

को प्रधानता दी गई है। दुःख और सुख का द्वन्द्व है। स्व का अभिप्रेत इस द्वन्द्व से अतीत है। वह मुमुक्षा-भाव से ही संश्लिष्ट है। भगवान् महावीर ने कहा—'बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा—'जानो और तोड़ो'। इसी क्रम से पुद्गलातीत वन सकोगे। निर्वाण वन्धन-मुक्ति का ही पर्याय है। दुःख-सुख वन्धन हैं। एक की जिहासा अन्य की लिप्सा की अभिव्यक्ति है। जिहासा और लिप्सा जिज्ञासा को जन्म देगी और वह समाहित होने के अनन्तर स्वरूपस्थ होकर मुमुक्षा-भाव की ओर वढ़ेगी। दर्शन की निष्पत्ति वहां स्वयं हो जाएगी।

दर्शन

मुमुक्षा-भाव में वाह्य का वहिष्कार है और चेतन के यथार्थ का अंकन। वहां आवरण का भेदन होता है और आत्म-प्रत्यक्ष साकार हो उठता है। अनुभूतियां प्रवल हो उठती हैं और उनसे सत्य की उपलव्धि आरम्भ हो जाती है। व्यक्ति एक दिन स्वयं सत्यमय हो जाता है। तात्पर्य यह होता है, जैन दर्शन को अनुभूतियों के वल पर सत्य की उपलव्धि अभिप्रेत है।

विज्ञान

विज्ञान का जन्म भी सत्य के सन्धान के लिए हुआ है, पर वहां प्रयोग की प्रधानता है। प्रयोगशालाओं और वेधशालाओं से जो प्रमाणित हो सका, वह सत्य की परिधि में समाविष्ट हो सका। प्रयोग पदार्थ-सापेक्ष हैं। पदार्थ भौतिक हैं, अतः वह सन्धान आत्म-प्रत्यक्ष से इतर रहा। कहना होगा, सत्य दो भागों में विभक्त हो गया—आत्म-प्रत्यक्ष तथा इन्द्रिय-प्रत्यक्ष। इस दृष्टिकोण से दर्शन और विज्ञान; दोनों पृथक्-पृथक् दिशाओं के पथिक वने। पर, सत्य के सन्धान का लक्ष्य दोनों ओर था और है; अतः वे दोनों समानान्तर चरण वढ़ाते रहे हैं। जिस प्रकार दो व्यक्ति, एक पूर्वाभिमुख वैठा है और दूसरा पश्चिमाभिमुख, विपरीत होते हुए भी निकट हैं, उसी प्रकार दर्शन और विज्ञान एक-दूसरे से दूर होते हुए भी निकट आ जाते हैं। सर जेम्स जीन्स के वे शव्द वहुत उपयोगी लगते हैं : "दर्शन और विज्ञान की सीमा-रेखा जो एक प्रकार से निरर्थक हो चुकी थी; वैचारिक

पदार्थ विज्ञान (थियोरिटिकल फिजिक्स) के निकट भूत में होने वाले विकास के कारण अब वही सीमा-रेखा महत्त्वपूर्ण और आकर्षक बन गई है।" इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है—दर्शन और विज्ञान सत्य-सन्धान के दो तट हैं और यथार्थता का जल इन दोनों तटों के मध्य ही प्रवाहित होता है। भगवान् महावीर का एक वाक्य है : **'जे अज्झत्थं जाणई से बहिया जाणई, जे बहिया जाणई से अज्झत्थं जाणई'**—अध्यात्म का ज्ञाता बाह्य का भी ज्ञाता है और बाह्य का ज्ञाता अध्यात्म का भी। आत्म-द्रष्टा आत्मेतर पदार्थों का भी ज्ञाता होता है। सर्वज्ञ केवल आत्मा को ही नहीं जानता, अपितु जड़ पदार्थों को भी जानता है। इस अभिप्राय से आत्म-प्रत्यक्ष तथा इन्द्रिय प्रत्यक्ष; दोनों ही ज्ञान की कोटि में हैं तथा सत्य की उपलब्धि के प्रमाण हैं।

स्याद्वाद

सत्य की ओर उन्मुख होने पर जैन दर्शन के क्षेत्र में स्याद्वाद की धारा उद्भूत हुई और विज्ञान के क्षेत्र में सापेक्षवाद की धारा। दोनों की ही मान्यता है, अनुभूतियां सार्वदेशिक हो सकती हैं, पर अभिव्यक्ति एक ही देश की होती है। स्याद्वाद और सापेक्षवाद, दोनों ही इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं। स्याद्वाद में दो शब्द संयुक्त हैं—स्याद् अर्थात् एक अपेक्षा से, वाद अर्थात् कथन करना। अपेक्षा-विशेष से जो प्रतिपादन किया जाता है, वह स्याद्वाद की कोटि में आता है। किन्तु, साथ ही अन्य अपेक्षाओं को निराकृत न करते हुए प्रतिपादन करना।

ज्ञान असीम है और शब्द ससीम। असीम को ससीम के द्वारा पूर्ण व्यक्त कर पाना अशक्य ही है। ज्ञाता जितनी अनुभूतियां करता है, उतना उन्हें शब्दों का परिधान नहीं दे सकता। शब्दों को जितना वह प्रयोग में लाता है, श्रोता उतना पकड़ नहीं पाता। इसीलिए कथंचित् के परिवेश में ही वास्तविकता का अंकन किया जा सकता है।

पदार्थ-स्वभाव का निरूपण करते हुए भगवान् महावीर ने कहा : **'उप्पन्नेइ वा विगमेइ या धूयेइ वा'**—'पदार्थ उत्पन्न होता है, नष्ट होता है और ध्रुव—निश्चल भी रहता है।' उत्पाद और विनाश, दोनों विरोधी

धर्म हैं। एक ही पदार्थ में विरोधी युगल का यह अवस्थान कुछ आश्चर्यकारी प्रतीत होता है। इसे स्पष्ट करने के लिए कुछ व्यावहारिक उदाहरण भी अपेक्षित हैं। जैनाचार्यों ने कहा :

घटमौलि सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्
शोक प्रमोद माध्यस्थं जनो याति सहेतुकम्

एक स्वर्णकार स्वर्ण-कलश को तोड़कर मुकुट बना रहा था। उसके पास तीन ग्राहक पहुंचे। एक को स्वर्ण-घट चाहिए था, दूसरे को स्वर्ण-मुकुट और तीसरे को केवल सोना। स्वर्णकार की प्रवृत्ति को देखकर पहले को दुःख हुआ, दूसरे को हर्ष हुआ और तीसरा माध्यस्थ-भाव में रहा। तात्पर्य हुआ, एक स्वर्ण में उसी समय विनाश देख रहा है, एक उत्पत्ति देख रहा है तथा एक ध्रुवता। इस प्रकार पदार्थ त्रिगुणात्मक हो जाता है। विरोधी युगलों के अवस्थान का यह सुन्दर उदाहरण है। इसी प्रकार दूसरा उदाहरण दिया गया है :

उत्पन्नं दधिभावेन नष्टं दुग्धतया पयः
गोरसत्वात् स्थिरं जानन् स्याद्वादद्विड्जनोपि कः ?

गोरस दूध रूप से नष्ट हुआ तो दधि के रूप में उत्पन्न हुआ। इस प्रकार अपेक्षा-भेद से एक पर्याय का विनाश अन्य पर्याय का उत्पाद है।

जैन विचारधारा के अनुसार पदार्थ गुण और पर्याय का आश्रय-स्थल है। गुण पदार्थ का स्वभाव है और पर्याय उसकी अवस्था। पर्याय में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है, अतः उत्पाद और विनाश का क्रम भी चलता ही रहता है। इस क्रम में पदार्थ अपने मौलिक स्वभाव को कभी भी नहीं छोड़ता।

विरोधी युगल

विरोधी युगलों की सह-अवस्थिति के परिप्रेक्ष्य में पदार्थ के साथ नित्य-अनित्य, सद्-असद्, वाच्य-अवाच्य, एक-अनेक आदि के नाना विकल्प भी दिखाई देते हैं। साथ ही यह प्रश्न भी अपनी महत्ता को व्यक्त करता है कि क्या जो पदार्थ नित्य है, वह अनित्य भी है ? जो एक है, वह अनेक भी है ? जो सद् है, वह असद् भी है ? जो वाच्य है, वह अवाच्य भी है ? जैन

तत्त्व-चिन्तन इन विरोधी युगलों का परिहार नहीं करता। वह मुक्त रूप से इन्हें स्वीकार करता है। उसका प्रतिपादन है—पदार्थ अपने मौलिक स्वभाव में सदैव स्थिर है। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है। यदि स्वभाव-परिवर्तन हो जाए तो सद् की असद् में और असद् की सद् में परिणति की दोषापत्ति का प्रसंग भी उपस्थित हो जाएगा। ऐसा किसी तत्त्व-चिन्तन-धारा को अभीष्ट नहीं है। पर्याय-अवस्था के परिवर्तन का कोई अवरोधक नहीं हो सकता। सचेतन और अचेतन दोनों ही प्रकार के पदार्थ प्रतिक्षण कुछ-न-कुछ ग्रहण करते हैं तथा कुछ-न-कुछ त्याग करते हैं। इसीलिए उनमें अवस्थिति के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। संक्रमण और अपक्रमण के नियम का उल्लंघन कोई कर नहीं सकता। इसी तरह विवक्षा के माध्यम से एक-अनेक, सद्-असद्, वाच्य-अवाच्य आदि की भी संगति है।

सप्तभंगी और नय

जैन दर्शन ने ज्ञाता के अभिप्रायों को अभिव्यक्ति देने हेतु सप्त भंगी, सात नय आदि का निरूपण किया है, जिनमें त्रिपदी—उत्पाद, व्यय और ध्रुवता का ही अपेक्षा विशेष से विस्तार है। क्योंकि कथन अपेक्षा से संवलित होकर शब्दों का चोगा पहनता है और श्रोता भी उसी तरह। इसीलिए नयों का अवलम्बन आवश्यक हो जाता है। नय वचन-सापेक्ष है; अतएव कहा गया : **'जावन्तो वयण पहा, तावन्तो नया'**—'जितने वचन-प्रकार हैं, उतने ही नये हैं'। इस प्रकार नयों की असीमितता अभिप्रेत है, पर विवेचन की सुगमता की दृष्टि से तथा संक्षेप के अभिप्राय से वे दो और सात की संख्या में विभक्त हैं। नय को जहां दो भागों में विभक्त किया गया है, वहां निश्चय और व्यवहार की अभिधा दी गई है। उसका तात्पर्य है, एक तो तात्त्विक (वास्तविक) अर्थ और दूसरा इन्द्रिय-गाह्य। जो तात्त्विक होता है, वह सर्वतः इन्द्रिय-गाह्य नहीं होता। इसीलिए जिसे कृष्ण माना जा रहा है, वह केवल कृष्ण ही नहीं है, अपितु उसमें सब वर्णों का अस्तित्व विद्यमान है। इसी प्रकार जो श्वेत दिखाई देता है, वह केवल श्वेत ही नहीं है, उसमें भी नाना वर्णों का अस्तित्व है। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ के बारे में निरूपण किया जा सकता है। सापेक्ष सत्य अल्पज्ञ द्वारा ग्रहण होता

है और सम्पूर्ण सत्य सर्वज्ञ के द्वारा।

देश-काल की अपेक्षा

सत्य की उपलब्धि में देश-काल की अपेक्षा भी अत्यावश्यक है। जैन-मनीषियों ने इसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अभिधा से पुकारा है। जब तक चारों अभिधाओं को संयोजित नहीं किया जाएगा, तब तक प्रतिपादन अधूरा रहेगा और जब यह होगा, तब स्वतः ही कथंचित् की मुद्रा से अंकित होकर पदार्थ स्याद्वाद की परिधि में समा जाएगा। वहां अस्ति-नास्ति आदि विरोधी युगलों की सह-अवस्थिति स्वतः ही अपनी यथार्थता को सिद्ध कर देगी। उदाहरणार्थ, घट के विषय में हम कहते हैं—यह मिट्टी का है, राज्यस्थान का बना हुआ है, ग्रीष्म ऋतु का बना हुआ है, यह गौर वर्ण व अमुक नाम का है। उसी समय उसी घट के बारे में दूसरा व्यक्ति उल्लेख करता है—यह घट स्वर्ण का नहीं है, विदर्भ प्रान्त का नहीं है, हेमवन्त ऋतु का बना हुआ नहीं है, यह श्याम वर्ण व अमुक प्रकार का घट नहीं है। यहां अस्ति और नास्ति स्वतः ही देश-काल-सापेक्ष होकर प्रतिपादन के क्षेत्र में उतरते हैं। इसी प्रकार पदार्थ-समूह अपनी अवस्थिति में नाना विरोधी युगलों को अपने में समाए हुए चलता है। पदार्थ-स्वरूप की इस वास्तविकता को लक्षित कर ही जैन मनीषियों ने गौरव के साथ कहा है :

जेण विणावि लोगस्स ववहारो सव्वहा न निव्वडई
तस्स भुवणेक्क गुरुं णमो अणेगन्तवायस्स।

अनेकान्त के बिना व्यवहार की संघटना की कोई मर्यादा ही नहीं बनती है।

सत्य के दस प्रकार

स्याद्वाद के क्षेत्र में अपेक्षात्मक समीक्षाओं की बहुलता है। पन्नवणा सूत्र में सत्य को दस भागों में विभक्त किया गया है; यथा—१. जनपद सत्य, २. सम्मत सत्य, ३. नाम सत्य, ४. स्थापना सत्य, ५. रूप सत्य, ६. प्रतीति सत्य, ७. व्यवहार सत्य, ८. भाव सत्य, ९. योग सत्य और १०. उपमा सत्य। भिन्न-भिन्न देशों की भिन्न-भिन्न भाषाएं हैं, अतः प्रत्येक पदार्थ

के भिन्न-भिन्न नाम हो जाते हैं। पर, वे सब अपने-अपने देश की अपेक्षा से सत्य हैं। कुछ शब्द ऐसे भी होते हैं, जो क्षेत्र-भेद से एक-दूसरे के विपरीत अर्थवाची भी हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, साधारणतया पिता को 'बापू' कहा जाता है। कुछ क्षेत्रों में छोटे बच्चे को उसका पिता और अन्य बापू कहते हैं। यह जनपद सत्य के अन्तर्गत है।

जन-व्यवहार से मान्य शब्द-प्रयोग सम्मत सत्य कहलाता है। जैसे—पंक में उत्पन्न होने से कमल को पंकज कहा जाता है, पर मेंढक को नहीं।

केवल व्यक्ति की पहचान के लिए किया जाने वाला उल्लेख नाम सत्य के अन्तर्गत है। जैसे—किसी का नाम है विद्यासागर और वह जानता 'क-ख' भी नहीं है।

माप-तोल, गणित आदि के बारे में निश्चय किया गया मानदण्ड स्थापना सत्य को व्यक्त करता है। जैसे—इंच, फीट आदि की कल्पना।

वर्तमान रूप को देखकर विगत व्यक्तियों का अध्यारोप करना रूप सत्य है। जैसे—नाट्यशाला में नाट्यकारों को देखकर दर्शक कह उठते हैं, यह हरिश्चन्द्र है, यह रोहिताश्व है, यह राम है, यह सीता है, आदि।

एक-दूसरे पदार्थ की अवस्थिति में छोटे-बड़े की प्रतीति, प्रतीति सत्य है। जैसे—आम की अपेक्षा में आमलक छोटा है, पर गुंजा के सामने वह बड़ा भी है।

लोक-भाषा में व्यवहृत होने वाला शब्द-प्रयोग व्यवहार सत्य की सीमा में आता है। बहुत बार पूछा जाता है—यह सड़क किस ओर जाती है? बटोही थका-मांदा गांव के पास पहुंचता है और कहता है, अब तो गांव आ गया है। पर न तो सड़क ही कहीं जाती है और न कभी गांव ही चलकर आता है।

इन्द्रियों द्वारा गृहीत पदार्थ-स्वरूप भाव सत्य के अन्तर्गत है। जैसे—कहा जाता है—हंस श्वेत है, कज्जल काला है। यद्यपि यह यथावस्थित कथन कहा जा सकता है, पर स्थूल की अपेक्षा से वास्तविक दृष्टि तो प्रत्येक पदार्थ में सभी वर्गों का अस्तित्व स्वीकार करती है।

यौगिक संज्ञाएं योग सत्य के अन्तर्गत हैं। जैसे— दण्डी, छत्री, स्वर्णकार चर्मकार, आदि।

उपमा के द्वारा साहित्य के क्षेत्र में व्यक्त होने वाला चिन्तन उपमा-सत्य है। उपमा और उपमेय की अपेक्षा से इसके चार विकल्प किये गए हैं।

जैन दर्शन में अनुभूति, अभिव्यक्ति तथा अधिगृहिति आदि सभी अपेक्षा से अनुस्यूत हैं; अतएव सत्य हमारे लिए सापेक्ष है। स्याद्वाद एक ओर सप्तभंगी, सात नय आदि के रूप में कुछ जटिल प्रतीत होता है, तो वहां व्यावहारिक उदाहरणों के माध्यम से वह सरल भी हो जाता है।

सापेक्षवाद

ज्यों ही हम सापेक्षवाद की ओर करवट लेते हैं, त्यों ही हमें ऐसा प्रतीत होता है, सत्य के अधिग्रहण के लिए वहां भी देश-काल की सापेक्षता को मुख्य माना गया है। किन्तु गणित की बहुत सारी पहेलियों के कारण वह दुरुह भी बन जाता है। सापेक्षवाद की सरलता का एक उदाहरण इस प्रकार लिया जा सकता है : एक बार प्रो० अलबर्ट आइन्स्टीन की पत्नी ने उनसे पूछा—"सापेक्षवाद क्या है, यह मैं कैसे बताऊं ?" प्रो० आइन्स्टीन ने एक दृष्टान्त में उत्तर दिया—"जब एक मनुष्य एक सुन्दर लड़की से बात करता है, तो उसे एक घंटा भी एक मिनट जैसा लगता है। उसे ही गर्म चूल्हे पर बैठा दिया जाए, तो उसे एक मिनट भी एक घटे के बराबर लगेगा। यही सापेक्षवाद है।"

सापेक्षवाद की सरलता का यह एक उदाहरण है। इसी प्रकार जटिलता का भी एक उदाहरण मिलता है। प्रो० मेक्सबोर्न ने लिखा है—मेरा एक मित्र एक बार किसी डिनर-पार्टी में गया। उसके पास बैठी हुई एक महिला ने कहा—'प्राध्यापक महोदय ! क्या आप थोड़े शब्दों में बताने का कष्ट करेंगे कि वास्तव में सापेक्षवाद क्या है ?' उसने विस्मित मुद्रा में उत्तर दिया—'क्या तुम यह चाहोगी कि उससे पूर्व मैं तुम्हें एक कहानी सुना दूं ? मैं एक बार अपने एक फ्रांसीसी मित्र के साथ सैर करने के लिए गया। चलते-चलते हम दोनों प्यासे हो गए। इतने में हम एक खेत पर आए। मैंने अपने मित्र से कहा—यहां हमें कुछ दूध खरीद लेना चाहिए। उसने कहा—दूध क्या होता है ? मैंने कहा—तुम नहीं जानते ? पतला और धौला, धौला···। उसने कहा—धौला क्या होता है ? मैंने कहा—

धौला होता है, जैसे वतख। उसने कहा—वतख क्या होता है? मैंने कहा—एक पक्षी जिसकी गर्दन मोड़दार होती है। उसने कहा—मोड़ क्या होती है? मैंने अपनी बांह को इस प्रकार से टेढ़ी करके उसे दिखाया—मोड़ इसे कहते हैं। तव उसने कहा—अच्छा, अव मैं समझ गया, दूध क्या है? इस कहानी को सुन लेने के वाद उस भद्र महिला ने कहा—सापेक्षवाद क्या है, अव यह जानने की मुझे कोई दिलचस्पी नहीं है।

परमार्थ सत्य तथा व्यवहार सत्य

परमार्थ सत्य तथा व्यवहार सत्य को समझने के लिए प्रो० आइन्स्टीन ने भी सापेक्ष उदाहरणों का प्रयोग किया है। एक स्थान पर वह लिखते हैं: "जिस किसी घटना के वारे में हम कहते हैं कि यह घटना आज या अभी हुई, हो सकता है कि वह घटना सहस्रों वर्ष पूर्व हुई हो। जैसे—एक-दूसरे से लाखों प्रकाश-वर्ष की दूरी पर दो चक्करदार नीहारिकाओं (क, ख) में विस्फोट हुए और वहां दो नये तारे उत्पन्न हुए। इन नीहारिकाओं में उपस्थित दर्शकों के लिए अपने यहां की घटना तत्काल हुई मालूम होगी, किन्तु दोनों के वीच लाखों प्रकाश-वर्ष की दूरी होने से, 'क' का दर्शक 'ख' की घटना को एक लाख वर्ष वाद घटित हुई कहेगा, जवकि दूसरा दर्शक अपनी घटना को तत्काल और 'क' की घटना को एक लाख वर्ष वाद घटित होने वाली वताएगा। इस प्रकार विस्फोट का परमार्थ-काल नहीं, सापेक्ष-काल ही वताया जा सकता है।

प्रो० एडिंगटन भी इसी प्रकार दिशा की सापेक्षता पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं; "सापेक्ष स्थिति को समझने के लिए सवसे सहज उदाहरण किसी पदार्थ की दिशा का है। एडिनवर्ग की अपेक्षा से केम्ब्रिज की एक दिशा है और लन्दन की अपेक्षा से एक अन्य दिशा है। इसी तरह और-और अपेक्षाओं से हम यह कभी नहीं सोचते कि उसकी वास्तविक दिशा क्या है?"

प्राकृतिक स्थितियों के वारे में भी प्रो० आइन्स्टीन अपेक्षा-प्रधान वात कहते हैं। वह लिखते हैं: "प्रकृति ऐसी है कि किसी भी प्रयोग के द्वारा चाहे वह कैसी ही क्यों न हो, वास्तविक गति का निर्णय असम्भव ही

है ।" ऐसा क्यों है, इसका उत्तर सर जेम्स जीन्स के शब्दों में इस प्रकार है : "गति और स्थिति आपेक्षिक धर्म हैं। एक जहाज़, जो स्थित है, वह पृथ्वी की अपेक्षा से ही स्थिर है, किन्तु पृथ्वी सूर्य की अपेक्षा से गति में है और जहाज़ भी इसके साथ। यदि पृथ्वी भी सूर्य के चारों ओर घूमने से रुक जाए, तो जहाज़ सूर्य की अपेक्षा स्थिर हो जाएगा। किन्तु, दोनों उस समय भी आस-पास के तारों की अपेक्षा गति करते रहेंगे। सूर्य भी यदि गति-शून्य हो जाए, तो भी ग्रह दूरस्थ नीहारिकाओं की अपेक्षा से गतिशील ही मिलेंगे। आकाश में इस प्रकार यदि हम आगे से आगे जाएंगे, तो हमें पूर्ण स्थिति जैसी कोई वस्तु नहीं मिलेगी।"

संशयवाद नहीं

स्याद्वाद और सापेक्षवाद दोनों ही अपेक्षा-प्रधान होकर वस्तु-सत्य के उद्घाटन में प्रेरक हो जाते हैं। बहुत सारे विद्वान् स्याद्वाद को संशयवाद के साथ योजित करने का प्रयत्न करते हैं। उसका कारण है कि वे स्याद् अव्यय को शायद का पर्यायवाची मान लेते हैं, जबकि यह अर्थ संगत नहीं है। स्याद्वाद तो जिस अपेक्षा से कथन करता है, उस अपेक्षा से वह है ही। यदि उसमें संशयात्मकता होती है, तो प्रतिपादन का कोई स्वरूप ही नहीं बनता और दर्शन की परिधि में भी वह नहीं आता। अस्ति-नास्ति आदि विरोधी धर्म-युगलों का युगवत् अवस्थान इसी अपेक्षा से बनता है।

राजस्थान विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग तथा इतिहास व भारतीय संस्कृति विभाग द्वारा २८ अक्तूबर १९६८ को आयोजित प्राध्यापकों एवं छात्रों की सभा में प्रदत्त भाषण।

भारतवर्ष का नामकरण

इस देश का नामकरण कैसे हुआ, यह एक जटिल प्रश्न है। इसको समाहित करने के लिए जैन और वैदिक परम्पराओं के प्राचीनतम तथा ऐतिह्य साहित्य का अनुसन्धान अपेक्षित होगा। प्रत्येक विचारक इस निष्कर्ष पर तो पहुंच ही जाते हैं कि चक्रवर्ती भरत के नाम से इस देश का नामकरण हुआ है, किन्तु यह चक्रवर्ती भरत कौन था, इस विषय में सभी विचारक एकमत नहीं हैं। जैन परम्परा में १. भरत, २. सगर, ३. मघवा, ४. सनत्कुमार, ५. शान्ति, ६. कुन्थु, ७. अर, ८. सुभूम, ९. पद्म, १०. हरिषेण, ११. जय, १२. ब्रह्मदत्त आदि बारह चक्रवर्तियों[1] का उल्लेख है। वैदिक परम्परा में १. मान्धाता, २. धुन्धुमार, ३. हरिश्चन्द्र, ४. पुरुरवा, ५. भरत और ६. कीर्तवीर्य—ये छः चक्रवर्ती[2] माने गए हैं। जैन परम्परा के प्रथम चक्रवर्ती भरत प्रथम तीर्थंकर तथा आठवें अवतार ऋषभदेव के सबसे बड़े पुत्र हैं; यह मान्यता जैन और वैदिक दोनों ही परम्पराओं की है। वैदिक परम्परा में प्रथम चक्रवर्ती भरत को चक्रवर्ती तो नहीं माना गया है, पर एक अनासक्त योगी, विशिष्ट राजा तथा तत्त्वज्ञानी पुरुष माना गया है। पांचवें चक्रवर्ती भरत केवल वैदिक परम्परा में ही चक्रवर्ती माने गए हैं, जो राजा दुष्यन्त के पुत्र थे।

---

१. आवश्यक वृत्ति, मलयगिरि, पत्र सं० २३७

२. मान्धाता धुन्धुमारश्च हरिश्चन्द्रः पुरुरवाः
भरतः कार्तवीर्यश्च षडेते चक्रवर्तिनः ॥
—सटीक अभिधान चिन्तामणि, मर्त्यकाण्ड।

नामकरण के बारे में नाना विचारकों की नाना कल्पनाओं ने सहज उभार लिया है। मत्स्यपुराणकार की मान्यता है—"मनुष्यों की उत्पत्ति व भरण-पोषण करने से मनु भरत कहलाता है और उसी के नाम की व्याख्या के अनुसार इस देश को भारत कहा जाता है।"[1] किन्तु कौन-सा मनु भरत कहा जाए ?

'भरत चक्रवर्ती भारतं भुङ्क्ते—शास्तीति भारतवर्षं'— भरत चक्रवर्ती भारत का उपभोग करता है तथा शासन करता है, अतः उस देश का नाम भारतवर्ष है। यह कथन भी निरुक्त वचन जैसा ही प्रतीत होता है और केवल संगति बैठाने का प्रयत्न मात्र है। इससे यह ध्वनित नहीं हो सकता कि कौन से भरत के नाम से भारतवर्ष का नामकरण हुआ। प्रस्तुत लक्ष्य की पूर्ति के लिए जैन और वैदिक परम्पराओं के मौलिक शास्त्रों, अनुश्रुतियों व एतिह्य तथ्यों को एक-एक कर परखना होगा।

जैन साहित्य

आगम साहित्य में भरत क्षेत्र का उल्लेख बहुत स्थानों पर मिलता है। धर्म कथानुयोग के प्रकरणों में जहां से कथारम्भ होता है, वहां जम्बूदीप व भरत क्षेत्र के उल्लेख के अनन्तर ही राजधानी या नगर का वर्णन किया गया है। चक्रवर्ती भरत[2] जब प्रव्रजित होकर राज-प्रासादों से निकल पड़ते हैं, वहां भरत क्षेत्र के साम्राज्य को छोड़ने का स्पष्ट उल्लेख है। इसी प्रकार वहां अन्य चक्रवर्तियों[3] के साम्राज्य-त्याग के साथ 'भरत क्षेत्र' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। जम्बूदीप पण्णत्ति[4] में भरत क्षेत्र के विस्तार, उसके प्रमुख नगर, पहाड़ों तथा नदियों का पूरा अधिकार है। वहां भरत क्षेत्र के

---

१. भरणात् प्रजनाच्चैव मनुर्भरत उच्यते।
निरुक्त वचनैश्चैव वर्षंतद् भारतं स्मृतम्॥
—मत्स्यपुराण, अध्याय ११४, पृ० ८८

२. भरहो वि भारहं वासं चिच्चा कामाइ पव्वए।
—उत्तराध्ययन सूत्र, अ० १८, गा० ३४

३. उत्तराध्ययन सूत्र, अ० १८, गा० ३५, ३६, ३८, ४०, ४१

४. भरत क्षेत्राधिकार।

नामकरण के वारे में कहा गया है कि इस क्षेत्र में भरत[1] नामक एक महर्धिक, महाद्युतिवंत, पल्योपम स्थिति वाले एक देव का वास है। उसके नाम से इस क्षेत्र का नाम भरत क्षेत्र है अथवा यह नाम शाश्वत है; अर्थात् अतीत में यही नाम था, वर्तमान में यही है और भविष्य में भी यही रहेगा।

आगम-साहित्य में भरत क्षेत्र शव्द का प्रयोग है, पर भारतवर्ष का प्रयोग विरल भी दृष्ट नहीं है। उन प्रसंगों का अध्ययन करने से ऐसा ज्ञात होता है कि भरत क्षेत्र और भारतवर्ष दोनों भिन्न-भिन्न हैं। भारतवर्ष तो भरत क्षेत्र का एक प्रदेश विशेष है। किन्तु, 'भारहं वासं' शव्द-प्रयोग से भारतवर्ष का ग्रहण न कर भरत क्षेत्र का ग्रहण किया गया है जो गवेषणा का एक सुन्दर प्रकरण वन जाता है। आगमेतर साहित्य में भारतवर्ष का स्वतन्त्र उल्लेख मिलता है और उनके आधार पर विद्वान्[2] यह प्रमाणित करते हैं कि भारतवर्ष का नामकरण स्वतन्त्र हुआ है और वह भगवान् ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्ती भरत के नाम पर हुआ है।

वसुदेव हिंडी में कहा गया है: 'सुर-असुरों द्वारा सेवित, जगत्प्रिय ऋषभदेव प्रथम राजा थे। उनके सौ पुत्र थे। भरत और वाहुवली उनमें प्रमुख थे। भगवान् ऋषभदेव ने अपने सौ पुत्रों को सौ राज्य देकर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। भारतवर्ष का चूड़ामणि भरत था। उसके नाम से ही यह देश भारतवर्ष कहलाता है।'[3]

जम्बूदीपपण्णत्ति में चक्रवर्ती भरत के प्रसंग में कहा गया है: "भरत चक्रवर्ती और देव के नाम से भारतवर्ष का नामकरण हुआ और भारतवर्ष से उनका।"[4]

दुष्यन्त-पुत्र भरत के नाम से भारतवर्ष का नामकरण हुआ, ऐसा उल्लेख विरल भी नहीं मिलता।

---

१. भरहे अइत्थदेवे महिड्ढिए महज्जुए जावपलिओवमठिइए परिवसइ। से एएणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ भरहेवासं। अदुत्तरंचणं गोयमा ! भरहस्सवासस्स सासए णामधिज्जे पण्णते।

२. जैन इतिहास की पूर्व पीठिका और हमारा अभ्युत्थान, पृ० ६

३. तत्थ भरहो भरहवास चूड़ामणी, तस्सेव नामेण इहं भारहवासं ति पव्वुच्चति।

—वसुदेव हिंडी, प्रथम खण्ड, पृ० १८६

४. भरतनाश्नश्चक्रिणो देवाच्च भारतनाम प्रवृत्तं भरतवर्षाच्च तयोर्नाम।

पुराण साहित्य

श्रीमद्भागवत के अनुसार भारतवर्ष का प्राचीन नाम अजनाभखण्ड था। आठवें अवतार भगवान् ऋषभदेव के समय तक यही नाम रहा। भगवान् ऋषभदेव के सौ पुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र अनासक्त योगी भरत जब शासक बने, तो उनके नाम से इस भूभाग का नाम बदलकर भारतवर्ष[1] हो गया। श्रीमद्भागवत (पुराण स्कन्ध ११, अध्याय २) में उपरोक्त अभिमत को दुहराकर उसकी पुष्टि की गई है तथा अन्य पुराण भी इसी स्वर को उदात्त करते हैं। मार्कण्डेय[2] पुराण में स्पष्ट कहा गया है कि आग्नीध्र-पुत्र नाभि थे और उनके पुत्र श्री ऋषभदेव। श्री ऋषभदेव के सौ पुत्र हुए, जिनमें भरत अग्रणी थे। श्री ऋषभदेव ने भरत का राज्याभिषेक किया और स्वयं पुलहाश्रम में तप का अनुष्ठान करने लगे। उन्होंने भरत को हिमालय से दक्षिण का राज्य दिया, जो उनके नाम से भारतवर्ष कहलाया। वायुपुराण,[3] अग्निपुराण,[4] नारदपुराण,[5]

---

१. येषां खलु महायोगी ज्येष्ठः श्रेष्ठ गुण आसीद्येनेदं वर्ष भारतमितिव्यपदिशन्ति।
—श्रीमद्भागवत पुराण, स्कन्ध ५, अ० ४।९

२. अग्निन्ध्रसूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूत् सुतो द्विजः।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशतात् वरः॥
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः।
तपस्तेपे महाभागः पुलहाश्रम संशयः (?)॥
हिमाह्वयं दक्षिणं वर्ष भरताय पिता ददौ।
तस्मात्तु भारतं वर्ष तस्य नाम्ना महात्मनः।
—अध्याय ५०, श्लो० ३९ से ४१

३. हिमाह्वयं दक्षिणं वर्ष भरताय न्यवेदयत्।
तस्माद् भारतं वर्ष तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः॥
—अध्याय ३३, श्लो० ५२

४. भरताद् भारतं वर्ष भरतात् सुमतिस्त्वभूत्।
—अध्याय १०, श्लो० १२

५. आसीत् पुरा मुनिश्रेष्ठो भरतो नाम भूपतिः।
आर्षभो यस्यनामेदं भारतं खण्डमुच्यते॥
—अध्याय ४८, श्लो० ५

विष्णुपुराण[1], गरुड़पुराण[2], ब्रह्माण्डपुराण[3], वाराहपुराण[4], लिंग-पुराण[5], स्कन्दपुराण[6], शिवपुराण[7] आदि में भी ऋषभ-पुत्र भरत के नाम से भारतवर्ष का नामकरण हुआ, ऐसे स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं।

महाभारत

दुष्यन्त-पुत्र भरत के नाम पर भारतवर्ष का नामकरण हुआ, इस बारे में महाभारत का एक प्रमाण दिया जाता है। वह पद्य है :

> भरताद् भारती कीर्तिर्येनेदं भारतं कुलम्।
> अपरे ये च पूर्वे वै भारता इति विश्रुता ॥१३१॥
>
> —आदिपर्व अ० ७४

"भरत से ही इस भूखण्ड का नाम भारत (अथवा भूमि का नाम भारती) हुआ। उन्हीं से यह कौरव वंश भारत वंश के नाम से विश्रुत हुआ। उनके बाद उस कुल में पहले तथा आज भी जो राजा हो गये हैं, वे भारत (भरतवंशी) कहे जाते हैं।" किन्तु, उपरोक्त पद्य के केवल उपरोक्त अर्थ से लेखक सहमत नहीं है, क्योंकि इस पद्य से दुष्यन्त-पुत्र भरत

---

१. ऋषभाद् भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशताग्रजः।
ततश्च भारतं वर्षमेतल्लोकेषु गीयते ॥
—अंश २, अध्याय १, श्लो० ३२

२. अध्याय १, श्लो १३

३. सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः ॥
हिमाह्वयं दक्षिणं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ॥
—अध्याय १४, श्लो० ६१

४. हेमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं महद् भारतं नाम शशास।
—अध्याय ७४

५. तस्मात्तु भारतंवर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः।
—अध्याय ४७, श्लो० २४

६. तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते।
—अध्याय ३७, श्लो० ५७

७. तत्रापि भरते ज्येष्ठे खण्डेऽस्मिन् स्पृहलीयके।
तन्नामा चैव विख्यातं खण्डं च भारतं तदा ॥
—अध्याय ५२

के युग में भारतवर्ष विश्रुत हुआ, न कि देश का नामकरण हुआ, यह ध्वनि भी निकलती है। किसी-किसी युग में यशस्वी राजा होते हैं और वे देश को इतना अधिक वर्चस्व प्रदान करते हैं कि उससे देश की ख्याति समुद्रों पार भी पहुंच जाती है। ऋषभ-पुत्र भरत भी यशस्वी राजा थे। वे प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों में अग्रणी थे। देश की कीर्ति उस समय भी बहुत फैली थी। उनके बाद युग के अनुकूल व प्रतिकूल थपेड़ों से देश का कायापलट होता रहा। उनके समय की देश की यशो वैजयन्ती दुष्यन्त-पुत्र भरत के समय तक उसी रूप में रहे, यह किसी भी प्रकार से संगत प्रतीत नहीं होता। यह अधिक सम्भव लगता है कि दुष्यन्त-पुत्र भरत ने उसमें उद्वर्तन कर अपनी लोकप्रियता के कारण जनमानस को पूर्णतया अपनी ओर आकर्षित कर लिया हो और उस आकर्षण में ही विद्वानों ने उपरोक्त पद्य का देश के नामकरण के साथ सम्बन्ध जोड़ दिया हो। अतः उस युग में भारतवर्ष की कीर्ति फैली, यही अर्थ विशेषतः संगत प्रतीत होता है।

अभिज्ञान शाकुन्तल, अंक ७ का अन्तिम श्लोक है :

रथेनानुद्धातः स्तिमितगतिना तीर्णजलधिः
पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः
इहायं सत्त्वानां प्रसभदमनात् सर्वदमनः
पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात्।

इस श्लोक के अनुवाद में राजस्थान संस्कृत कॉलेज, वाराणसी के प्रधानाचार्य श्री सीताराम शास्त्री ने लिखा है : "इसी भरत के नाम से हमारा यह देश भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ।" किन्तु, उपरोक्त श्लोक में इस प्रकार का कहीं भी संकेत नहीं है। यह केवल उनकी अपनी वैयक्तिक धारणा है।

श्रीमद्भागवत पुराण

श्रीमद्भागवत पुराण में दुष्यन्त-पुत्र भरत की वंश-परम्परा, उसका व्यक्तित्व व वर्चस्व, राज्य-व्यवस्था आदि का सविस्तार उल्लेख किया गया है। वहां कहा गया है—"पिता दुष्यन्त की मृत्यु हो जाने के बाद वह परम यशस्वी बालक चक्रवर्ती सम्राट् हुआ। उसका जन्म भगवान् के अंश

से हुआ था, इसलिए आज भी पृथ्वी पर उसकी महिमा का गायन किया जाता है। उसके दाहिने हाथ में चक्र का चिह्न था और पैरों में कमल कोष का। महाभिषेक की विधि से राजाधिराज के पद पर उसका अभिषेक हुआ। भरत की शक्ति अपार थी। भरत ने ममता-पुत्र दीर्घतमा मुनि को पुरोहित बनाकर गंगातट पर गंगासागर से लेकर गंगोत्रीपर्यन्त पचपन पवित्र अश्वमेध यज्ञ किए। इसी प्रकार यमुनातट पर भी प्रयाग से लेकर यमुनोत्री तक उन्होंने अठहत्तर अश्वमेध यज्ञ किये। इन सभी यज्ञों में उन्होंने अपार धनराशि का दान किया था। दुष्यन्त-कुमार भरत का यज्ञीय अग्नि-स्थापन बड़े ही उत्तम गुणवाले स्थान में किया गया था। उस स्थान में भरत ने इतनी गौएं दान दी थीं कि एक हज़ार ब्राह्मणों में प्रत्येक ब्राह्मण को एक-एक बद्व (१३०८४) गौएं मिली थीं। इस प्रकार राजा भरत ने उन यज्ञों में एक सौ तेंतीस (५५-७८) घोड़े बांधकर (१३३ यज्ञ करके) समस्त नरपतियों को असीम आश्चर्य में डाल दिया। इन यज्ञों के द्वारा इस लोक में तो राजा भरत को परम यश मिला ही, अन्त में उन्होंने माया पर भी विजय प्राप्त की और देवताओं के परम गुरु भगवान् श्री हरि को प्राप्त कर लिया। यज्ञ में एक कर्म होता है 'मष्णार'। उसमें भरत ने सुवर्ण से विभूषित, श्वेत दांतों वाले तथा काले रंग के चौदह लाख हाथी दान किये। भरत ने जो महान् कर्म किया, वह न तो पहले कोई राजा कर सका था और न आगे ही कोई कर सकेगा। क्या कभी कोई हाथ से स्वर्ग को छू सकता है? भरत ने दिग्विजय के समय किरात, हूण, यवन, अन्ध्र, कङ्क, खश, शक और म्लेच्छ आदि समस्त ब्राह्मण-द्रोही राजाओं को मार डाला। पहले युग में बलवान् असुरों ने देवताओं पर विजय प्राप्त कर ली थी और वे रसातल में रहने लगे थे। उस समय वे बहुत-सी देवांगनाओं को रसातल में ले गए थे। राजा भरत ने फिर से उन्हें छुड़ा दिया। उनके राज्य में पृथ्वी और आकाश प्रजा की सारी आवश्यकताएं पूर्ण कर देते थे। भरत ने सत्ताईस हज़ार वर्ष तक समस्त दिशाओं का एकछत्र शासन किया। अन्त में सार्वभौम सम्राट् भरत ने यही निश्चय किया कि लोकपालों को भी चकित कर देनेवाला ऐश्वर्य, सार्वभौम सम्पत्ति, अखण्ड शासन और यह

जीवन भी मिथ्या ही है। यह निश्चय करके वे संसार से उदासीन हो गये।"[१]

दुष्यन्त-पुत्र भरत के इतने विस्तृत व्यक्तित्व-वर्णन में उसके नाम से भारतवर्ष के नामकरण के होने का उल्लेख न होना इसी तथ्य को पुष्ट करता है कि इस भरत के कारण देश का नामकरण नहीं हुआ है।

अन्य पुराण

कुछ पुराणों में दुष्यन्त-पुत्र भरत के नाम से देश का नामकरण हुआ, ऐसे उल्लेख भी मिलते हैं। किन्तु आश्चर्य इस बात का है कि उन्हीं पुराणों के पूर्व प्रकरणों में ऋषभ-पुत्र भरत के साथ नामकरण का उल्लेख किया गया है और अग्रिम प्रकरणों में दुष्यन्त-पुत्र भरत के साथ। एक ही पुराण-कार अपने दो तरह के मत व्यक्त कैसे कर सकता है? साथ ही कुछेक पुराणों में दुष्यन्त-पुत्र भरत के प्रकरण में **'तस्य नाम्ना तु भारताः'** कहा गया है। यह कुछ संगत प्रतीत हो सकता है; क्योंकि इस उल्लेख से दुष्यन्त-पुत्र भरत के साथ भारत जाति का सम्बन्ध जुड़ जाता है। जिन पुराणों में **'तस्य नाम्ना तु भारतम्'** कहा गया है, सम्भव है, वहां लिपि-दोष से ऐसा हो गया हो। एक पुराण में दो प्रकार के मत कैसे प्राप्त हो सकते थे?

जैन और वैदिक साहित्य के प्रमाणों का बलाबल परखते हुए यह अधिक संगत लगता है कि ऋषभ-पुत्र भरत के नाम से देश का नामकरण हुआ है।

वर्तमान इतिहास तथा अन्य आधार

श्रीमद्भागवत पुराण के अनुसार दुष्यन्त-पुत्र भरत पुरु की सतरहवीं[२] पीढ़ी में हुआ है। पुरु की वंश-परम्परा[३] चन्द्रवंशी परम्परा कही गई है। डा० आर० सी० मजूमदार द्वारा सम्पादित 'वैदिक ऐज' पुस्तक में यह मान्यता स्पष्ट की गई है: "सूर्य वंश में अयोध्या, विदेह और वैशाली—ये तीन वंश-

१. श्रीमद्भागवत पुराण, स्कन्ध ६, अध्याय २०।२३-३३
२. श्रीमद्भागवत पुराण, स्कन्ध ६, अध्याय २१
३. श्रीमद्भागवत पुराण, स्कन्ध ६, अध्याय १४ से २४ तक

परम्पराएं प्रसिद्ध हैं।[१] ऋग्वेद[२] के अनुसार पुरु के पूर्व तथा उनके समय इस देश का नाम भारतवर्ष था। ऋषभ-पुत्र भरत अयोध्या की वंश-परम्परा से सम्बद्ध हैं तथा पुरु से सहस्रों वर्षों पूर्व हो चुके हैं। शतपथ ब्राह्मण में सूर्यवंशी भरत के नाम पर भारतवर्ष के नामकरण का उल्लेख मिलता है। इन विभिन्न प्रमाणों के आधार पर यह स्पष्ट है कि दुष्यन्त-पुत्र भरत के नाम से भारतवर्ष का नामकरण नहीं हुआ है, बल्कि ऋषभ-पुत्र भरत के नाम से हुआ है। 'वैदिक ऐज'[३] पुस्तक में इस सम्बन्ध में चर्चा की गई है, पर वहां लेखक ने अपना कोई मत व्यक्त न कर केवल इतना ही उल्लेख किया है कि कुछ व्यक्तियों की धारणा है—दुष्यन्त-पुत्र भरत ने इस देश के साथ अपना नाम संयोजित किया, जो आगे चलकर भारतवर्ष के नाम से विश्रुत हुआ। वहां केवल इस विषय को छुआ ही गया है।

भारत के प्राचीन राजवंश,[४] जैन एन्टीक्वेरी[५] में ऋषभ-पुत्र के नाम पर भारतवर्ष नाम पड़ा, यह मान्यता पुष्ट की गई है। श्री जे० स्टीवेन्सन[६] ने 'कल्पसूत्र' की भूमिका में इस विषय को सप्रमाण विश्लिष्ट करते हुए

---

१. Now we turn to the Solar dynasty which comprises the three lines of Ayodhya, Videha and Vaisala, and the Saryatas. These are the only branches that are important of the lines produced by the nine Sons of Manu.
—The Vedic Age, P. 275

२. मन्त्र १, सूक्त २३।

३. According to some accounts, Bharata gave his name to our country which was henceforth called Bharatavarsha.
—The Vedic Age, p. 212.

४. भाग २, पृ० १-२

५. Vol. IX, p. 76.

६. Brahmanical Puranas prove Rishabha to be the father of that Bharata, from whom India took to name Bharatavarsh.
—Kalpasutra, Introd., p. XVI

विश्वासपूर्वक यह स्वीकार किया है कि ऋषभ-पुत्र भरत के नाम से भारतवर्ष का नामकरण हुआ। काशी विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के प्राध्यापक श्री गंगाप्रसाद, एम० ए० लिखते हैं : "ऋषियों ने हमारे देश का नाम प्राचीन चक्रवर्ती सम्राट भरत के नाम पर भारतवर्ष रखा था।"[१]

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' ने स्पष्ट लिखा है : "भरत ऋषभदेव के ही पुत्र थे, जिनके नाम पर हमारे देश का नाम भारत पड़ा।"[२] रावराजा डा० श्यामविहारी मिश्र, रायबहादुर, डी०लिट्० तथा रायबहादुर पं० शुकदेवविहारी मिश्र ने 'बुद्ध पूर्व का भारतीय इतिहास' पुस्तक में सातों ही मनुओं का सविस्तार विवेचन किया है। प्रस्तुत पुस्तक में दो स्थानों पर विशेष बल देते हुए लिखा है : "ऋषभदेव के पुत्र महाराजा भरत हुए, जिनके नाम पर देश भारतवर्ष कहलाया।"[३] स्वायम्भुव मनु की वंश-परम्परा के बीच वे लिखते हैं : "भारत नाम भरत पर पड़ा।"[४]

(४ जनवरी से १० जनवरी, १९६४ तक अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्य विद्या सम्मेलन, नई दिल्ली में पठित)।

१. प्राचीन भारत, पृ० ५
२. संस्कृति के चार अध्याय, पृ० १२९
३. अध्याय ५, पृ० ७४
४. अध्याय ४, पृ० २८

राजस्थान के जैन साहित्य का एक ऐतिहासिक अवलोकन

लगभग दो हज़ार वर्ष पूर्व तक जैन धर्म का मुख्य केन्द्र विहार प्रान्त था। चौवीस तीर्थंकरों में से अधिकांश तीर्थंकर विहार तथा उसके निकटवर्ती प्रदेश (बनारस, गोरखपुर, नेपाल की तराई तथा बंगाल) में ही विचरे थे। महावीर-निर्वाण के लगभग २१५ वर्ष पश्चात् इसी प्रदेश में सम्राट् चन्द्रगुप्त हुए। वे भी जैन थे। आर्य भद्रवाहु उनके गुरु थे। एक परम्परा के अनुसार सम्राट् चन्द्रगुप्त ने एक बार रात्रि में सोलह स्वप्न देखे। उन स्वप्नों में नौवां स्वप्न था—'एक वहुत बड़ा सरोवर है। चारों ओर से वह सूखा है। केवल दक्षिण-पश्चिम में एक अंजलि मात्र पानी है।" सम्राट् चन्द्रगुप्त उन स्वप्नों से वहुत विचलित हुए। अष्टांग ज्योतिष के पारगामी आर्य भद्रवाहु से उन्होंने स्वप्नों का फलादेश पूछा। आर्य भद्रवाहु ने उनका सविस्तार उत्तर दिया। नौवें स्वप्न के फलादेश में उन्होंने वताया—वड़े सरोवर के रूप में विहार प्रदेश तथा उसका निकटवर्ती वह क्षेत्र है, जिसे तीर्थंकरों ने सदा से पावन किया है। भविष्य में इस प्रदेश में जैन धर्म का ह्रास होगा और इस प्रदेश से दक्षिण-पश्चिम में वह वहुत थोड़ा रहेगा।" आज के सन्दर्भ में यदि इस स्वप्न और इसके फलादेश का अंकन किया जाए, तो यथार्थता वहुत समीप ही लगती है। विहार में जैन धर्म का लगभग नामशेष हो गया है। वहां तो केवल राजस्थान के प्रवासी ही अधिकांश जैन हैं।

राजस्थान विहार से दक्षिण-पश्चिम में है। इस प्रदेश में जैन धर्म का प्रभाव ई० सातवीं-आठवीं शताब्दी से आरम्भ होता है; अतः इस

प्रदेश का जैन साहित्य भी इससे प्राचीन नहीं हो सकता।

राजस्थान के मुख्य-मुख्य नगरों में लगभग वारहसौ वर्षों से जैन धर्म का प्रभाव रहा है। इनमें जयपुर, जोधपुर, वीकानेर और उदयपुर का स्थान मुख्य है। वीकानेर, जोधपुर और उदयपुर में श्वेताम्वर सम्प्रदाय का प्रभाव अधिक है, जव कि जयपुर में दिगम्वर सम्प्रदाय का। श्वेताम्वर विद्वानों ने अधिकांशतः राजस्थानी भाषा को अपनाया और दिगम्वर विद्वानों ने राजस्थानी से अधिक हिन्दी को। साथ ही जैन विद्वानों ने संस्कृत भाषा को भी प्रमुख स्थान दिया। गुजराती और पंजावी भाषाओं को भी उन्होंने अपनाया। जव से हिन्दी ने वल पकड़ा, जैन विद्वान् इस क्षेत्र में भी अग्रणी रहे। कहना चाहिए, आरम्भ से अव तक हिन्दी के विकास में जैन मनीषियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। जैन विद्वानों ने सदा ही जन-भाषा का सम्मान किया और उसी भाषा को अपने प्रचार का एक सवल माध्यम वनाया।

राजस्थानी भाषा

राजस्थानी भाषा के भण्डार को भरने में जैन साहित्यकारों का अनूठा योगदान रहा है। अपभ्रंश भाषा का जैसे-जैसे राजस्थानी भाषा में समवतार होता गया, जैन विद्वान् इस ओर वढ़ते गए। ग्यारहवीं शताब्दी में यह भाषा अपने आदिकाल के उत्कर्ष पर पहुंच चुकी थी। इसका मध्यकाल तो अतीव सुनहला था। रास, फागुवेलि, वावनी, वत्तीसी, छत्तीसी, सज्झाय, व्यावला आदि अनेक रूपों में साहित्य की श्रीवृद्धि हुई। लोक-कथाओं को भी एक नया रूप दिया गया, जिसके माध्यम से वे अमर वन गईं। 'ढोला-मारू' और 'गोरा-वादल' आदि की रचनाएं भी जैन सन्तों की वहुत प्रसिद्ध रही हैं। साथ ही जैन तत्त्व के गहन ग्रन्थों तथा आगमों पर लिखी गई टीकाएं, टव्वा, वालावबोध आदि ने भी इस भाषा के स्वरूप को निखारने में चार चांद लगाए।

उन्नीसवीं शती तक के साहित्यकारों में मल्लिदास, जयवल्लभ, देवानन्दि अजितदेव सूरि, मतिशेखर, आज्ञासुन्दर, कल्याणचन्द्र पुण्यनन्दि, कल्याण तिलक, क्षेमराज, क्षमाकलश, उपाध्याय राजशील, धर्मसमुद्र,

सहजसुन्दर, उपाध्याय भक्तिलाभ, चारुचन्द्र, पार्श्वचन्द्र सूरि, विजयदेव सूरि, वाचक विनयसमुद्र, ब्रह्म जिनदास, उपाध्याय कमलसंयम, वाचक मालदेव, महोपाध्यायपुण्यसार, उपाध्याय साधुकीर्ति, कनकसोम, रंगकुशल, लक्ष्मीप्रभ, कनकप्रभ, विमल तिलक, कुशललाभ, हीरकलश, जयनिधान, वाचक गुणरत्न, चरित्रसिंह, हेमरत्न सूरि, सारंग, जयसोम, उपाध्याय गुणविनय, महोपाध्याय समयसुन्दर, पुण्यकीर्ति, उपाध्याय लब्धिकल्लोल, सहजकीर्ति, श्रीसार, विनयमेरू, वाचक सूरचन्द्र, समय प्रमोद, उपाध्याय समयराज, जिनसिंह सूरि, जिनराज सूरि, उपाध्याय शिवनिधान, विद्याकीर्ति, भुवनकीर्ति, लावण्यकीर्ति, लखपत, ब्रह्मरायमल, कुमुदचन्द्र, सुमतिकीर्ति सूरि, पाण्डे राजमल, जिनहर्ष, जिनसमुद्र सूरि, महोपाध्याय लब्धोदय, योगीराज आनन्दधन, अभयसोम, सुमतितरंग, लाभवर्द्धन, राजलाभ, धर्ममन्दिर, उपाध्याय लक्ष्मीवल्लभ, कमल हर्ष, महोपाध्याय धर्मवर्द्धन, कुशलधीर, श्रीमद् देवचन्द्र, अमर विजय, रामविजय, रघुपति, सुमतिवल्लभ, ज्ञानसागर, जिनलाभ सूरि, रूपचन्द, फकीरचन्द, जयमल्ल, रायचन्द्र, आसकरण, सबलदास, खुसालचन्द्र, विनयचंद्र, सावन्त ऋषि, रत्नचन्द्र, चौथमल तथा तेरापन्थ के प्रवर्तक आचार्यश्री भीखणजी और मुनिश्री हेमराजजी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

संस्कृत-प्राकृत भाषाओं में

पूर्व-चर्चित साहित्यकारों ने राजस्थानी भाषा में तो अनेक ग्रन्थ रचे ही, साथ ही अन्य भाषाओं में भी ग्रन्थों की रचना कर साहित्य के गौरव को बढ़ाया है। वाचक कल्याण तिलक की छप्पन गाथाओं में कालकाचार्य की कथा और साधु-कीर्ति की विशेष नाममाला, संघ पट्टकवृत्ति, भक्तामर अवचूरी सतरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में विशेष प्रसिद्ध हुई। हर्षप्रभ के शिष्य कविवर हीरकलश से सवंत् १६२१ में प्राकृत भाषा में 'जोइस हीर' ग्रन्थ बनाया। वह ग्रन्थ ज्योतिष के क्षेत्र में सर्वथा अनूठा रहा। इसी ग्रन्थ को उन्होंने संवत् १६५७ में राजस्थानी भाषा में भी बनाया। उसमें ६०५ पद्य हैं। यह ग्रन्थ उनकी ज्योतिष की गहराई को प्रकट करता है। सतरहवीं सदी के वादिशिरोमणि गुणरत्न ने रघुवंश, मेघदूत, न्यायसिद्धान्त

जैसे ग्रन्थों पर टीकाएं लिखकर अपनी तलस्पर्शिनी विद्वत्ता का परिचय दिया है। उपाध्याय जयसोम सतरहवीं सदी के संस्कृत के प्रसिद्ध कवि थे। उन्होंने कर्मचन्द वंशोत्कीर्तन नामक ऐतिहासिक काव्य लिखा है। इनके ही शिष्य गुणविनय ने इसी काव्य पर संस्कृत टीका लिखी है। 'कृष्ण रुक्मणी री वेलि' (सं० १६७८) पर सुवोध-मंजरी नामक टीका लिखने वाले कवि सारंग हुए हैं। इसी कड़ी में एक विशेष नाम उपाध्याय गुणविनय का भी है। उन्होंने नेमिदूत, नल-दमयन्ती चम्पू, रघुवंश, वैराग्यशतक, सुबोध सप्तति, कर्मचन्द्र वंश प्रवन्धक, लघुशान्ति, इन्द्रिय पराजय शतक आदि वारह संस्कृत, प्राकृत के काव्यों पर संस्कृत में टीकाएं लिखीं। युगप्रधान जिनचन्द्र सूरि संवत् १६४८ में वादशाह अकवर को प्रतिवोध देने के लिए जव लाहौर गए थे, उपाध्याय गुणविनय भी उनके साथ थे।

महोपाध्याय समयसुन्दर की वेजोड़ प्रतिभा को देखकर तो सवकी अंगुली दांतों तले लग जाती है। सं० १६४९ की वात है, वादशाह अकवर ने कश्मीर-विजय के लिए प्रस्थान किया। प्रस्थान से पूर्व विद्वानों की एक सभा हुई। विद्वानों के समक्ष समयसुन्दरजी ने एक अद्‌भुत ग्रन्थ उपस्थित किया, जिसकी तुलना में संसार में आज तक भी कोई ग्रन्थ नहीं ठहर सकता। उस ग्रन्थ का मुख्य आधार संस्कृत भाषा का आठ अक्षरों का एक वाक्य **'राजा नो ददते सौख्यम्'** है। इस ग्रन्थ में इस वाक्य के दस लाख अर्थ किए गए हैं। वादशाह अकवर और विद्वानों की वह सभा प्रतिभा के इस चमत्कार पर नतमस्तक हुई। कश्मीर-विजय से जव अकवर वापस लौटे, तो जैन-धर्म के अनेक आचार्यों तथा साधुओं का उन्होंने सम्मान किया। उनमें समयसुन्दरजी भी एक थे, जिन्हें उस अवसर पर वाचक पद पर प्रतिष्ठित किया गया। व्याकरण, छन्द, काव्य, अलंकार, ज्योतिष आदि अनेक विषयों पर उन्होंने स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे तथा अनेक ग्रन्थों पर उन्होंने टीकाएं भी लिखीं। उनका साहित्य-निर्माण का समय वि० सं० १६४१ से १७०० का है।

ललितकीर्ति ने माघकाव्य और शीलोपदेश माला पर सतरहवीं

शताब्दी के उत्तरार्द्ध में संस्कृत-टीकाएं लिखीं। इसी अवधि में महोपाध्याय सहजकीर्ति ने व्याकरण, कोश आदि विषयों तथा कई अन्य ग्रन्थों पर संस्कृत भाषा में टीकाएं भी लिखीं। वि० सं० १६८० का वाचक सूरचन्द्र का संस्कृत महाकाव्य 'स्थूलिभद्र गुणमाला' संस्कृत साहित्य में अपना विशेष स्थान रखता है। पंचतीर्थी श्लेषालंकार चित्रकाव्य और शान्ति लहरी काव्य भी कवि की प्रतिभा के चमत्कार हैं। जैन तत्त्वसार नामक ग्रन्थ की संस्कृत में स्वोपज्ञ विस्तृत टीका सूरचन्द्र की ही देन है। इस प्रकार संस्कृत-प्राकृत में भी सैकड़ों प्रसिद्ध जैन साहित्यकार हुए हैं, जिन पर राजस्थान को गहरे गौरव की अनुभूति होती है।

उन्नीसवीं शताब्दी के राजस्थानी साहित्यकारों की पहली पंक्ति में आने वाला नाम तेरापंथ के प्रवर्तक आचार्य भीखणजी का है। वे एक साधक सन्त थे। उन्होंने साधना के क्षेत्र में एक नया और क्रान्तिकारी दृष्टिकोण दिया था। विरोधों की सांय-सांय जलती हुई आग के बीच उन्होंने अपना काम आरम्भ किया। उनमें अथक आत्म-बल था, अतः उन्होंने विरोधों की तनिक भी परवाह नहीं की और अपने मार्ग में बढ़ते गए। साहित्य उनका मुख्य कार्य नहीं था, पर उनके ग्रन्थों के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि वे कुशल साहित्यकार थे। साहित्य साधना की अपेक्षा रखता है। साधना आचार्य भीखणजी के जीवन में साकार थी; अतः उनकी लेखनी जिस ओर चली, मुक्त रूप से चली। तेरापंथ के चतुर्थ अचार्यश्री जयाचार्य ने आचार्य भीखणजी का जीवन-चरित्र 'भिक्खु जश रसायन' के नाम से लिखा है। उसमें आचार्य भीखणजी की रचनाओं का पूरा ब्यौरा दिया गया है। जयाचार्य के उल्लेख के अनुसार आचार्य भीखणजी का ग्रन्थ-परिमाण ३८,००० पद्यों का है। आचार्य भीखणजी की अधिकांश रचनाओं का मुख्य आधार जैन तत्त्व-दर्शन हैं। नव पदारथ री चौपाई, श्रावक ना बारे व्रत, कालवादी री चौपाई, निक्षेपां री चौपाई, जिनाग्या री चौपाई, अनुकम्पा री चौपाई आदि उनमें मुख्य हैं। कुछेक जीवन-चरित्र भी हैं। आचार्य भीखणजी की शैली सरल है, किन्तु कहीं-कहीं उसमें तीखे बाण भी हैं। उनका समय वि० सं० १७८३ से १८६० का है। पर, उनका अधिकांश साहित्य

सं० १८३२ से सं० १८६० के बीच लिखा गया है।

उन्नासवीं शती के उत्तरार्द्ध में और बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध के साहित्यकारों में अग्रणी नाम जयाचार्य का है। उनका समय वि० सं० १८६० से १९३८ तक का है। जयाचार्य वचपन से ही साहित्य के नाना क्षेत्रों में उतर आए थे। पन्नवणा-सूत्र जैन आगमों में सबसे क्लिष्ट है, फिर भी जयाचार्य ने अठारह वर्ष की अवस्था में ही उस पर जोड़ (राजस्थानी भाषा में पद्यानुवाद) लिख दी थी। अन्य कई जैन आगमों पर भी उन्होंने सुविस्तृत जोड़ें लिखीं। भगवती सूत्र जैन आगमों में सबसे बड़ा है। राजस्थानी भाषा और राजस्थान के लोक-गीतों की धुन पर इसी आगम पर जोड़ लिखकर उन्होंने राजस्थानी भाषा और जैन साहित्य को बहुत बड़ी देन दी है। उनके चरित-ग्रन्थ तथा कथा-ग्रन्थ भी अनेक हैं और काफी बड़े हैं। कुछ ग्रन्थों की पद्य संख्या हज़ारों में है। उनके तत्त्व-प्रधान ग्रन्थों में 'झीणी चरचा' तथा 'प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध' आदि मुख्य हैं। राजस्थानी गद्य में भी उन्होंने ग्रन्थ लिखे हैं। उनके समग्र साहित्य का परिमाण तीन लाख पद्यों से भी अधिक है।

वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में ज्यों ही हम निकट भूत में दृष्टि डालते हैं, एक ऐसे मनीषी को पाते हैं, जिन्होंने संस्कृत-व्याकरण के क्षेत्र में अनूठा कार्य किया है। वे हैं मुनिश्री चौथमलजी। कई शताब्दियों से संस्कृत व्याकरण का पल्लवन नहीं हो पाया था। रूढ़ हो जाने से उसमें नाना प्रश्न उठ रहे थे, जो समाधान की अपेक्षा रखते थे। मुनिश्री चौथमलजी ने वि० सं० १९८१ से १९९० तक की अवधि में विभिन्न व्याकरणों को शोध कर 'भिक्षु शब्दानुशासन' के नाम से एक नये सांगोपांग व्याकरण का निर्माण किया। पं० रघुनन्दन शर्मा उस कार्य में उनके अनन्य साथी थे।

वर्तमान में आचार्यश्री तुलसी तथा उनके संघ का साहित्य के क्षेत्र में विशेष अनुदान है। हिन्दी, संस्कृत, राजस्थानी तथा प्रान्तीय भाषाओं में नाना विषयों में ललित साहित्य लिखा गया है। आचार्यश्री तुलसी ने राजस्थानी में 'कालूयशोविलास', 'डालिम चरित्र', 'माणिक-महिमा' आदि चरित-ग्रन्थ तथा हिन्दी में 'भरत-मुक्ति' और 'अग्नि-परीक्षा' आदि महाकाव्य तथा खण्डकाव्य लिखे हैं। इसी प्रकार उन्होंने संस्कृत में दर्शन और योग

विषयक ग्रन्थ भी लिखे हैं। उनकी वाचना-प्रमुखता में जैन आगमों का हिन्दी-अनुवाद, सम्पादन, विवेचन आदि का उच्चस्तरीय कार्य हो रहा है। उनके शिष्यों में मुनिश्री नथमलजी, मुनिश्री बुद्धमल्लजी तथा मुनिश्री नगराजजी मूर्धन्य साहित्यकार हैं। आधुनिक तथा शोध साहित्य—तीनों का ही अधिकृत क्षेत्र है। प्रत्येक लेखक के दसों ग्रन्थ साहित्यिक जगत् में समादृत हो चुके हैं। मुनिश्री नगराजजी 'आगम और त्रिपिटक: एक अनुशीलन'[1] नाम से एक वृहद् ग्रन्थ लिख रहे हैं, जिसका पहला खण्ड 'इतिहास और परम्परा' शीघ्र ही सामने आ रहा है। जैन और बौद्ध इतिहास व परम्परा युगपत् अध्ययन के बारे में यह एक पहला कार्य होगा।

प्रान्तीय भाषाओं में

तेरापंथ के साधु जिस प्रान्त में गए, उसी प्रान्त की भाषा को उन्होंने अपनाया। पंजाब और गुजरात राजस्थान के पड़ोस में हैं। इस संघ के साधुओं ने पजाबी और गुजराती भाषा में भी विपुल साहित्य लिखा है। मुनिश्री धनराजजी 'प्रथम' और मुनिश्री चन्दनमलजी ने इस दिशा में अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएं की हैं। मुनिश्री सोहनलालजी राजस्थानी भाषा के जनकवि हैं।

राजस्थानी के जैन साहित्य का प्राचीन इतिहास तथा नवीन इतिहास बहुत विशाल है। अपेक्षा है, नये दृष्टिकोण से उसकी समीक्षा, सम्पादन तथा विवेचन किया जाए। बहुत सारे ग्रन्थ अब तक भण्डारों की ही शोभा बढ़ा रहे हैं। जब वे नई सज्जा से विद्वानों के हाथों में आएंगे; विश्वास है, वे उन्हें प्रणीत कर सकेंगे।[2]

---

१. ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है तथा राजस्थान विश्वविद्यालय और मगध विश्व-विद्यालय के पाठ्यक्रम में भी हैं।

२. राजस्थान इतिहास-कांग्रेस के तृतीय अधिवेशन (जयपुर) में पठित।

जैन परम्परानुसार सृष्टि-क्रम

मनुष्य जिज्ञासा को लेकर जन्म लेता है और उसी के समाधान में जीवन की यात्रा को अनवरुद्ध क्रम से चलाता रहता है। भगवान् महावीर की पहली वाणी थी : 'के अहं आसी, के वा इओ चुइयो पेच्चा भविस्सामि'—'मैं कौन था और मेरा भविष्य क्या है ?' और यहीं से जिज्ञासा आगे बढ़ती है—यह सृष्टि क्या है ? किसने बनाई है ? कब बनाई थी ? इसका भविष्य क्या है ? प्रत्येक धर्म के पुराण-साहित्य में इन जिज्ञासाओं का समाधान दिया गया है। जैन परम्परानुसार सृष्टि का कभी आत्यन्तिक नाश नहीं होगा; अतः उसके रचनाकाल का प्रश्न उठता ही नहीं। वह शाश्वत है। क्रम-ह्रासवाद व क्रम-विकासवाद के आधार पर समय व्यतीत होता है, युग बनते हैं और उससे इस विश्व में क्रमशः अवसर्पण (अपकर्ष) और उत्सर्पण (उत्कर्ष) होता है।

जैन शास्त्रों के अनुसार द्वापर, त्रेता, सतयुग और कलियुग की तरह सामूहिक परिवर्तन को 'कालचक्र' के नाम से अभिहित किया गया है। कालचक्र के मुख्यतः दो विभाग हैं—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी। दोनों ही विभाग फिर छः-छः भागों में विभक्त होते हैं। अवसर्पिणी के छः विभागों के नाम हैं—१. एकान्त सुषमा, २. सुषमा, ३. सुषम-दुःषमा, ४. दुःषम-सुषमा, ५. दुःषमा और ६. दुःषम-दुःषमा। उत्सर्पिणी में इनका व्यतिक्रम होता है। इन छः विभागों को 'आरा' भी कहा जाता है। अवसर्पिणी में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संहनन, आयुष्य, शरीर, सुख आदि की क्रमशः अवनति होती है और उत्सर्पिणी में उन्नति। जब उन्नति चरम सीमा पर

पहुंच जाती है, तब अवनति आरम्भ होती है और जब अवनति चरम सीमा पर पहुंच जाती है, तब उन्नति आरम्भ होती है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के आरम्भ से एक तरह की नई सृष्टि का आरम्भ होता है और समाप्ति होने पर समाप्ति।

अवसर्पिणी की आदिकालीन स्थितियां

प्रथम विभाग एकान्त सुषमा में मनुष्यों का समचतुरस्र संस्थान होता था और वज्रऋषभनाराच संहनन। वे अपक्रोध, निरभिमान, निश्छद्म, अवितृष्ण, विनीत, भद्र, भोज्य व भक्ष्य पदार्थों का संग्रह न करने वाले, सन्तुष्ट, औत्सुक्य-रहित और सहज धर्मपरायण होते थे। उस समय भूमि अत्यन्त स्निग्ध थी। नदियों में पानी भी मधुर व निर्मल ही होता था। पदार्थ स्निग्ध थे; अतः बुभुक्षा भी अल्प थी। चौथे दिन केवल तुअर की दाल के प्रमाण थोड़ा-सा भोजन करते थे। यौगलिक व्यवस्था थी। माता-पिता की मृत्यु के छः मास पूर्व एक युग्म पैदा होता था और वही आगे चलकर पति-पत्नी के रूप में परिवर्तित हो जाता था। विवाह, पूजन, प्रेतकार्य आदि नहीं थे; अतः व्यग्रता भी नहीं थी। पति-पत्नी के अतिरिक्त कोई सम्बन्ध नहीं था। किसी भी प्रकार की सामाजिक स्थिति भी नहीं थी। मनुष्य केवल युगल रूप में व्यष्टि ही था। कर्म-युग था, पर कर्म-युग का प्रवर्तन नहीं हुआ था।

विकार अत्यल्प थे। जीवन की आवश्यकताएं बहुत सीमित थीं। खेती, सेवा व व्यापार के आधार पर आजीविका चलाने की कोई आवश्यकता न थी। बुभुक्षा और प्यास की शान्ति, वस्त्र, मकान व पात्र की पूर्ति, प्रकाश व अग्नि के अभाव की पूर्ति, मनोरंजन व आमोद-प्रमोद के साधनों की उपलब्धि आदि जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएं दस प्रकार के कल्प वृक्षों से पूर्ण होती थीं। इस प्रकार के वृक्षों को इस्लाम धर्म में द्रख्त तोबे और क्रिश्चियन धर्म में स्वर्गीय वृक्ष कहा गया है। अमेरिका में अब भी ऐसे वृक्ष पाए जाते हैं, जिन्हें मिल्क ट्री, लाइट ट्री, बैड ट्री आदि के नाम से पुकारा जाता है।

जनसंख्या बहुत कम थी और जीवन-यापन के साधन प्रचुर मात्रा में

थे; अतः कलह, वैमनस्य या स्पर्धा नहीं होती थी। किसी के परस्पर स्वार्थ नहीं टकराते थे; अतः कुल, जाति या वर्ग भी नहीं बने। ग्राम या राज्य की तो कोई आवश्यकता भी न थी। सभी स्वेच्छाचारी व वनवासी थे। कोई शासक या शासित नहीं था और न कोई भी शोषक या शोषित। दास, प्रेष्य, कर्मचारी व भागीदार भी नहीं होते थे।

असत्याचरण, लूट-खसोट, लड़ना-झगड़ना व मार-काट नहीं थे। अब्रह्मचर्य सीमित था। नैसर्गिक आनन्द और शान्ति थी। धर्म और उसके प्रचारक भी नहीं थे। जीवन सहज धार्मिक होता था। विश्वासघात, प्रतिशोध, आक्षेप आदि नहीं थे। हीनता और उच्चता के भावों का भी अभाव था। सफाई करने वाला वर्ग भी नहीं था।

हाथी, घोड़े, वैल, ऊंट आदि सभी प्रकार के पशु होते थे, पर मनुष्य उन्हें वाहन के रूप में प्रयुक्त नहीं करता था। गाय, भैंस, वकरी आदि दुधारू पशु भी होते थे, पर उनका दूध नहीं निकाला जाता था; अतः किसी ने दूध का स्वाद भी कभी नहीं चखा था। गेहूं, चावल आदि धान्य विना वोए ही उगते थे, पर उन्हें उपयोग में ही नहीं लाया जाता था। सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक प्राणी भी किसी पर हमला नहीं करते थे। किसी प्रकार के शस्त्र भी नहीं थे। जीवन लम्बे होते थे। असामयिक मृत्यु नहीं होती थी। श्वास, ज्वर व महामारी आदि छोटी व बड़ी किसी प्रकार की भी व्याधि नहीं होती थी।

अवसर्पिणी कालचक्र के दूसरे और लगभग तीसरे विभाग में सभी बातें क्रमशः ह्रासोन्मुख होने लगीं। पृथ्वी का स्वभाव, पानी का स्वाद, पदार्थों की यथेच्छ उपलब्धि क्रमशः कम होती गई। भोजन की आवश्यकता भी तीसरे-दूसरे दिन होने लगी। शरीर का परिमाण भी घटने लगा।

स्थितियों में परिवर्तन

तृतीय विभाग लगभग समाप्त हो रहा था। यौगलिक व्यवस्था डोलने लगी। सरलता, निरभिमान व निश्छद्म के स्थान पर जीवन में कुटिलता, अहं व छद्म प्रविष्ट होने लगे। कल्पवृक्षों के द्वारा अभीप्सित मिलना बहुत अल्प हो गया। भूमि की स्निग्धता व मधुरता में भी और अन्तर आ

गया। आवश्यकताएं बढ़ने लगीं और उनकी पूर्ति के लिए संग्रहवृत्ति भी बढ़ी। जब अनिवार्य आवश्यकताएं पूर्ण न हुईं, तो वाद-विवाद, लूट-खसोट व छीना-झपटी भी बढ़ी। सहज रूप में उगने वाले धान्य का भोजन के रूप में उपयोग होने लगा। क्षमा, शान्ति व सोहार्द आदि सहज गुण बदल गए। अपराधी मनोभावना के बीज अंकुरित होने लगे। असंख्य वर्षों के बाद ऐसी परिस्थिति हुई थी।

कुल व कुल-प्रमुख का आरम्भ

अव्यवस्था व अपराध न हों, इसके लिए मार्ग खोजे जाने लगे। अपनी-अपनी सुरक्षा के लिए अपने से समर्थ का आश्रय लिया जाने लगा। एक-दूसरे की निकटता बढ़ी और उसने सामूहिक जीवन जीने के लिए विवश कर दिया। उस सामूहिक व्यवस्था को 'कुल' के नाम से कहा गया।

मनुष्यों में अहंवृति जागृत होने लगी थी; अतः उस 'कुल' का मुखिया कौन हो, यह प्रश्न भी सामने आया। पद-लिप्सा भड़कने लगी थी, परन्तु उसके लिए किसी प्रकार का विग्रह उचित नहीं समझा जाता था। किसी सहज मार्ग की गवेषणा की जा रही थी। एक दिन एक विशेष घटना घटी। एक युगल स्वेच्छया वन में भ्रमण कर रहा था। सामने से एक उज्ज्वल व वलिष्ठ हाथी आ गया। दोनों की आंखें मिलीं। हाथी के हृदय में युगल के प्रति सहज स्नेह जागृत हुआ। उसे अपने गत भव की स्मृति हुई। उसने जाना, हम दोनों ही पश्चिम महा-विदेह क्षेत्र में वणिक् पुत्र थे और दोनों में घनिष्ठ मैत्री थी। यह सरल था, अतः यहां मनुष्य रूप में उत्पन्न हुआ है और मैं धूर्त-मायाचारी था; अतः इस पशु-योनि में आया हूं। उसने अपने मित्र को, उसके न चाहने पर भी अपनी पीठ पर बैठा लिया। अन्य युगलों ने जब इस घटना को देखा, तो उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ; क्योंकि इस अवसर्पिणी काल में यह युगल ही सर्वप्रथम वाहनारूढ़ हुआ था। हाथी बहुत विमल था, अतः उस युगल का नाम भी विमलवाहन प्रसिद्ध हो गया तथा उसे ही प्रथम कुलकर के पद पर आसीन किया गया। इस प्रकार कुलकर की नियुक्ति हो जाने से सभी युगल विमलवाहन के आदेश को मानते और वह सबको व्यवस्था देता।

दण्ड-नीति की आवश्यकता

अपराधी मनोवृत्ति वढ़ती हुई कुछ रुकी। किन्तु व्यवस्था देने मात्र से ही स्थिति नियन्त्रित न हुई। कुछ दण्ड-नीति की भी आवश्यकता अनुभव की गई। इससे पूर्व कोई दण्ड-व्यवस्था नहीं थी। कल्पवृक्षों ने अभीप्सित प्रदान करना लगभग बन्द कर दिया; अतः युगलों का उन पर अत्यधिक ममत्व वढ़ने लगा। एक युगल द्वारा अधिकृत कल्पवृक्ष का दूसरे युगल द्वारा वलात् उपयोग होने लगा और इस प्रकार व्यवस्था-भंग होने से विग्रह वढ़ने लगे। विमलवाहन ने सवको एकत्रित किया और अपने ज्ञान-वैशिष्ट्य से झगड़ा टालने की दृष्टि से, कुटुम्बियों में जिस तरह सम्पत्ति वांटी जाती है, कल्पवृक्षों का वंटवारा कर दिया।

कुछ दिन तक व्यवस्था ठीक चलती रही, पर इसका भी अतिक्रमण होने लगा। विमलवाहन ने इसके प्रतिकार के लिए दण्ड-व्यवस्था का आरम्भ किया। सर्वप्रथम हाकार नीति का प्रचलन हुआ। अपराधी को खेदपूर्वक कहा जाता—'हा! तुमने यह किया?' अपराधी पानी-पानी हो जाता। उस समय इतना कथन भी मृत्युदण्ड का काम करता था। कुछ दिनों तक यह व्यवस्था चलती रही। अपराध भी कम होते, व्यवस्था भी वनी रहती। किन्तु आवश्यकताओं की पूर्ति के अभाव में धीरे-धीरे अपराध वढ़ने लगे और प्रचलित दण्ड-व्यवस्था भी लोगों के लिए सहज वन गई।

चक्षुष्मान् दूसरा कुलकर हुआ। वह भी अपने पिता की तरह ही व्यवस्थाएं देता रहा। कभी अपराध वढ़ते और कभी कम होते। 'हाकार' दण्ड से सव कुछ ठीक हो जाता। यशस्वी तृतीय कुलकर वना; तव वैमनस्य, प्रतिशोध व अन्य अपराध भी वढ़ते गए। यशस्वी ने यह सोचकर कि एक औषधि से यदि रोगोपशान्ति नहीं होती तो दूसरी औषधि का प्रयोग करना चाहिए; 'माकार नीति' का प्रचलन किया। अपराधी से कहा जाता—'और कभी ऐसा अपराध मत करना'। अल्प अपराधी को 'हाकार' और भारी अपराधी को 'माकार' का दण्ड दिया जाता।

यशस्वी और चतुर्थ कुलकर अभिचन्द्र के समय तक उक्त दो दण्ड-

व्यवस्थाओं से काम चलता रहा। पांचवें कुलकर प्रसेनजित् को फिर इसमें परिवर्तन करना पड़ा। अपराधों की गुरुता बढ़ती जा रही थी। प्रारम्भ में जिसे महान् अपराध कहा जाता, इस समय तक वह तो सामान्य कोटि में आ चुका था। युगल कामार्त्त, लज्जा व मर्यादा-विहीन होने लगे; इसलिए प्रसेनजित् ने हाकार और माकार के साथ 'धिक्कार नीति' का प्रचलन किया। इस दण्ड-व्यवस्था के अनुसार अपराधी को इतना और कहा जाता था—'तुझे धिक्कार है, जो इस तरह के काम करता है'। इससे पुन: मर्यादाएं स्थापित हुई। युगल भीत रहते और अपराध करते हुए सकुचाते। छठे मरुदेव और सातवें नाभि कुलकर तक यह व्यवस्था चलती रही। नाभि कुलकर की पत्नी का नाम मरुदेवा था।

कुलकर के पर्यायवाची नामों में मनु, कुलधर व युगाधि-पुरुष भी प्रसिद्ध हैं। जिस प्रकार कुल—संघीय जीवन बिताने की शिक्षा देने से वे कुलकर कहलाए थे; उसी प्रकार आजीविका के नाना साधन बताने से मनु, कुलों की व्यवस्थित स्थापना से कुलधर तथा इस युग के आदि-पुरुष होने से युगाधि-पुरुष कहलाए।

कर्म-युग का आरम्भ

कुलकर नाभि के घर ऋषभदेव ने जन्म लिया। उन्होंने कर्म-युग का प्रवर्तन किया। असि, मसि, कृषि का आरम्भ किया। वंश-परम्परा की स्थापना की तथा विवाह-पद्धति का प्रचलन किया। नगरों का व्यवस्थित निर्माण हुआ। राज्य-व्यवस्था के सम्यक् संचालन के लिए पुलिस व सेना की व्यवस्था की। द्विपद तथा चतुष्पद पशुओं को उपयोग में लाने की प्रक्रिया सुझाई। पात्र-निर्माण, उपकरण-निर्माण, वस्त्र-निर्माण आदि की विधि भी बताई। चित्र-शिल्प तथा नापित-शिल्प का प्रशिक्षण दिया। बहत्तर कलाओं का ज्ञान, प्राणि-विज्ञान, लिपि-ज्ञान तथा गणित का व्यवस्थित अभ्यास भी कराकर उन्होंने समाज-व्यवहार की प्रक्रियाओं को सुगम किया। तब से सारे कार्य व्यवस्थित संचालित होते आ रहे हैं।[1]

---

१. २९ अप्रैल, १९७१ को आकाशवाणी, जयपुर से प्रसारित।

पावा कहा ?

इतिहास और परम्परा जब एक-दूसरे को साथ लेकर चलते हैं, बहुत सारे तथ्य प्रामाणिक हो जाते हैं और उन्हें सुगमता से मान्यता मिल जाती है। किन्तु, परम्परा जब इतिहास का साथ छोड़ देती है, वह श्रद्धा युग में चली जाती है और उसकी सर्वमान्यता संदिग्ध हो जाती है। इतिहास परम्परा को साथ लेकर पुष्ट होता है, पर उसके साथ न रहने पर भी उसके अस्तित्व को कोई चुनौती नहीं दे सकता। किन्तु कई बार इसका उल्टा भी होता है। परम्परा इतिहास को इतना धुंधला कर देती है कि यथार्थता बिलकुल ओझल हो जाती है। ऐसा ही उत्तर प्रदेश के 'पपहुर' गांव के साथ हुआ है। परम्परा ने उसके इतिहास को अनगिनत परतों के नीचे दबा दिया है। आवश्यकता है, उस इतिहास को पुनः उभारा जाए।

'पपहुर' वर्तमान में देवरिया जिले में है। आज से ढाई हज़ार वर्ष पूर्व यह 'अपापापुरी', 'पावा' आदि नामों से भी विख्यात था। इतना ही नहीं, राजा हस्तिपाल की राजधानी होने का भी इसे गौरव प्राप्त था। भगवान् महावीर ने अपना अन्तिम वर्षावास भी यहीं किया था और यहीं से कार्तिक अमावस्या को वे निर्वाण प्राप्त हुए थे। परम्परा ने इस गांव को इतना पीछे धकेल दिया है कि कुछ विद्वानों के अतिरिक्त सामान्य जनता इस तथ्य को स्वीकार करने को भी तैयार नहीं है।

भगवान् महावीर का निर्वाण-स्थल परम्परा के अनुसार पटना जिले में गंगा के दक्षिण प्रदेश में राजगिर की समीपवर्ती पावा को बतलाया जा रहा है, वहां के भव्य मन्दिरों ने उसे एक जैन तीर्थ बना

दिया है, पर इतिहास इसे स्वीकार नहीं कर सकता। इसके कुछ मुख्य कारण हैं, इतिहास के अनुसार यह सर्वसम्मत मान्यता है कि भगवान् महावीर के निर्माण के समय नौ मल्लकी तथा नौ लिच्छवी; अठारह गणराजा उपस्थित थे। राजगिर की निकटवर्ती पावा उस समय मागधों के अधीन थी। मागधों और गणराजाओं के बीच ज्वलंत शत्रुता थी। शत्रु प्रदेश में उनका जाना कतई सम्भव नहीं हो सकता। गंगा के उत्तरी अंचल में गणराज्य थे। वे अपनी राज्य सीमा में भगवान् महावीर के निर्वाणोत्सव में सम्मिलित हुए हैं, यही यथार्थता के अधिक निकट है।

भगवान् महावीर ने अन्तिम वर्षावास से पूर्व का वर्षावास राजगृह में किया। अन्तिम समय तक उनका शरीर नीरोग था और उन पर वार्धक्य का भी कोई विशेष असर नहीं था। राजगिर से वर्तमान पावा की दूरी केवल सात-आठ मील है। प्रश्न होता है, आठ महीनों की अवधि में क्या उन्होंने इतना ही विहार किया होगा ? सम्भव है, उन्होंने लम्बा विहार किया है और गंगा के दक्षिण अंचल से वे उत्तरी अंचल में आए हैं।

दीघ निकाय अट्ठकथा (सुमंगलविलासिनी) में बताया गया है: **'पावा नगर तो तीणि गावुतानि कुसिनारा नगरं'**—'पावा से कुसिनारा की दूरी तीन गव्यूत (तीन कोस) है।' इससे भी स्पष्ट ध्वनित होता है कि पावा एक ही नहीं, दो हैं—एक गंगा के उत्तर में तथा दूसरी दक्षिण में। उत्तरी पावा क्रमशः परम्परा की निगाह से ओझल होती गई और दक्षिणी पावा को मान्यता मिलती गई। इतिहास ने पुनः करवट ली है। अणुव्रत परामर्शक मुनिश्री नगराजजी, डी० लिट्०, महापंडित राहुल सांकृत्यायन आदि विद्वानों ने अपनी शोध के आधार पर उपेक्षित उत्तरी पावा की ओर पुनः जन सामान्य का ध्यान आकर्षित किया है।

चार वर्ष के बाद भगवान् महावीर की पच्चीससौवीं निर्वाण-शताब्दी के अवसर पर उत्तरप्रदेश का उपेक्षित ग्राम 'पपहुर' पुनः अपनी ऐतिहासिक महत्ता को प्राप्त कर सकेगा; ऐसी सम्भावनाएं अब आकार लेने लगी हैं।[1]

---

१. स्वतन्त्र भारत (लखनऊ) में प्रकाशित

प्राचीन गणतन्त्र क्यों टूटा ?

ढाई हजार वर्ष पूर्व विहार में भगवान् महावीर तथा गौतम बुद्ध के समय गणतन्त्र-व्यवस्था थी। अनेक छोटे-बड़े गणतन्त्र राज्य थे, जो 'संघ-राज्य' या 'संघ' कहलाते थे। कहा जाता है, उनकी संख्या ७७०७ थी। इनके प्रमुख राजा कहलाते थे और विधिवत् उनका अभिषेक होता था। अभिषिक्त राजा 'राजन्य' कहलाते थे। प्रत्येक राजा के उपराजा, सेनापति, भाण्डारिक आदि होते थे। वैशाली में इनके पृथक्-पृथक् प्रासाद व आराम आदि थे। ७७०७ राजाओं की शासन-सभा 'संघ-सभा' कहलाती थी। समग्र गणतन्त्र को 'वज्जीसंघ' या 'लिच्छवी-संघ' के नाम से पुकारा जाता था। वैशाली-मुख्य राजधानी थी।

प्रश्न होता है, वह गणतन्त्र-व्यवस्था क्यों टूटी? उसका कोई मुख्य निमित्त भी अवश्य बना होगा। आगम और त्रिपिटक साहित्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है, उस गणतन्त्र-व्यवस्था को तोड़ने का मुख्य सूत्रधार वस्सकार बना था। वह ऐतिहासिक घटना वर्तमान की गणतन्त्र-व्यवस्था की सुरक्षा के लिए बहुत प्रेरक बन जाती है।

कहा जाता है, गंगा के तटवर्ती एक पत्तन के पास पर्वत में रत्नों की खान थी। अजातशत्रु और लिच्छवियों के बीच आधे-आधे रत्न बांट लेने का समझौता था। अजातशत्रु आलस्यवश समय पर पहुंच नहीं पाता था और लिच्छवी एकमत होकर सब रत्न ले जाते थे। अजातशत्रु को खाली हाथ लौटना पड़ता था। अनेक बार ऐसा ही हुआ। अजातशत्रु क्रुद्ध होकर लिच्छवियों की पराजय के लिए चिन्तन करने लगा। पर, वह जानता था,

महर्द्धिक लिच्छवियों को उच्छिन्न करना सुगम नहीं है। उसने अपने महामात्य वस्सकार को बुद्ध के पास भेजा और उनसे लिच्छवियों के पराभव का कारण पूछा। बुद्ध ने वस्सकार को कहा—"लिच्छवियों की सात मुख्य विशेषताएं हैं। उनके रहते हुए वे सभी के लिए अपराजेय हैं।"

वस्सकार ने नम्रता से पूछा—"वे सात विशेषताएं कौन-सी हैं ?"

बुद्ध ने कहा—"उनके अधिवेशन में पूर्ण उपस्थिति होती है। वे एकमत होकर परिषद् में बैठते हैं, एकमत ही उठते हैं, एकमत से ही कार्य करते हैं तथा परिषद् की भेरी बजते ही भोजन करते हुए, आभूषण और वस्त्र पहनते हुए सब कुछ बीच ही में छोड़कर एकत्रित हो जाते हैं। वे अवैधानिक कार्य नहीं करते तथा वैधानिक कार्यों का उल्लंघन नहीं करते। वे वृद्धों का सत्कार-सम्मान करते हैं। वे बलात् विवाह नहीं करते। वे चैत्यों का आदर करते हैं और उनकी मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं करते। अर्हतों की धार्मिक सुरक्षा करते हैं। जब तक वे इन नियमों पर चलते रहेंगे, उनका कोई पराभव नहीं कर सकता, उनकी हानि नहीं कर सकता।"

वस्सकार अजातशत्रु के पास आया। उसने बुद्ध के कथनानुसार सब कुछ बतलाते हुए कहा—"वज्जी-लिच्छवी अजेय हैं। उन्हें तो किसी रिश्वत या भेद से ही जीता जा सकता है।"

अजातशत्रु ने वस्सकार के साथ मंत्रणा की और एक योजना सुनिश्चित की गई। दूसरे ही दिन अजातशत्रु ने वज्जी व लिच्छवियों की राज-सभा में चर्चा छेड़ी। महामंत्री वस्सकार ने लिच्छवियों की प्रशंसा की। अजातशत्रु उसे सहन नहीं कर सका। उसने वस्सकार की राज-सभा में भर्त्सना करते हुए कठोर आदेश दिया—"इसका सिर-मुण्डन कर नगर से निकाल दो। यह मेरे समक्ष मेरे शत्रु की प्रशंसा करता है। ज्ञात होता है, इसको उन्होंने फोड़ लिया है।"

आदेश तत्काल क्रियान्वित हुआ। वस्सकार भी गुस्से में भर आया। वह भी यह कहते हुए निकल पड़ा—"मैं राज्य के समस्त दुर्बल स्थानों को जानता हूं। यदि मैं राजा को सीधा न कर दूं, तो मेरा नाम वस्सकार नहीं !"

वस्सकार दूर-दूर तक विश्रुत था। विरोधी भी उसका लोहा मानते थे। अजातशत्रु के यहां से निर्वासन का समाचार लिच्छवियों तक भी पहुंचा। परस्पर मंत्रणा होने लगी। बहुत सारे सदस्य कहने लगे—"उसे अपने यहां सम्मानित स्थान दे दिया जाना चाहिए। उसकी सूझ-बूझ का हमें लाभ मिलेगा।" बहुत से सदस्यों ने इसके प्रतिवाद में कहा—"यह ठग है। इसे गंगा पार न आने दो। कहीं यह हमारे ही उच्छेद का निमित्त न बन जाए।"

प्रथम पक्ष के व्यक्तियों ने कहा—"यह घटना अपने पक्ष में घटित हुई है। इतने दिन तक अजातशत्रु हमारे प्रतिरोध के लिए इसकी प्रतिभा का उपयोग करता था। अब हम उसके प्रतिरोध में इसका उपयोग करेंगे। यह शत्रु का शत्रु है, अतः आदरणीय है।"

दूसरा पक्ष निर्बल रहा, अतः वस्सकार को वैशाली गणतन्त्र में महामात्य का पद सुगमता से प्राप्त हो गया। धीरे-धीरे उसने सर्वत्र अपना प्रभाव स्थापित कर लिया तथा आत्मीयता से सबको आकर्षित कर लिया। जब उसने देखा, सभी उसका पूर्ण सम्मान करते हैं, तो उसने लिच्छवियों में भेद डालने का प्रयत्न आरम्भ किया। जिस समय बहुत सारे लिच्छवी एकत्रित होते, वह किसी एक से एकान्त में सामान्य-सी बात पूछता। किसी को वह खेत जोतने के बारे में पूछता, तो किसी से पूछता, 'आज घर पर शाक क्या बना था?' जब वह पूछकर दूर हट जाता, पास बैठे अन्य लिच्छवी उनसे पूछते, 'महामात्य ने आपसे क्या बात की?' वे उसी साधारण बात को बतलाते। साथी लिच्छवी उनसे चौंक पड़ते। वे कहते, 'तुम यथार्थ बात न बतलाकर हमसे छिपा रहे हो। तुम्हारा मेरे पर विश्वास नहीं रह गया है।' इस प्रकार वह उससे सदा के लिए टूट जाता। वस्सकार बहुत बुद्धिमान् था। वह अन्य किसी के पास बैठकर कहता, 'तुम तो बड़े गरीब हो।' किसी से कहता, 'तुम तो बड़े कायर हो।' वह पूछता, 'किसने कहा?' वस्सकार कहता, 'तुम्हारे अमुक साथी ने।' इस प्रकार नाना बातों से उसने सभी के मनों में एक-दूसरे के प्रति घृणा व अविश्वास के भाव भर दिए।

कुछ ही दिनों में मनोमालिन्य इतना बढ़ गया कि एक रास्ते से दो लिच्छवी कभी भी एक साथ नहीं निकलते। वस्सकार ने एक बार परिषद्

की भेरी वजवाई। एक भी लिच्छवी नहीं आया। उसे निश्चय हो गया कि अव लिच्छवियों को सुगमता से जीता जा सकता है। अजातशत्रु के पास आक्रमण के लिए प्रच्छन्न सन्देश भिजवा दिया। उसने तत्काल प्रयाण कर दिया। ये समाचार वैशाली पहुंचे। युद्ध की भेरी वजी—"आओ, चलें। शत्रु को गंगा-पार न होने दें।" कोई भी नहीं आया। दूसरी बार भेरी वजी—"आओ, चलें। शत्रु को नगर में प्रविष्ट न होने दें।" फिर भी कोई नहीं आया। भेरी सुनकर सभी यही कहते—"हम तो गरीव हैं, कायर हैं, हम क्या लड़ेंगे ? जो श्रीमन्त और शौर्य-सम्पन्न हैं, वे लड़ेंगे।" परिणाम यह हुआ, कोई भी लड़ने के लिए नहीं आया। अजातशत्रु को वैशाली के द्वार खुले मिले। उसने वैशाली का सर्वनाश किया और चला आया। गणतन्त्र-व्यवस्था उसके तत्काल बाद ही समाप्त हो गई।

इतिहास की यह ज्वलन्त घटना भारतीय जनतन्त्र के लिए विशेष प्रेरक वन जाती है। भारत की ओर गृध्र-दृष्टि से न मालूम कितने देश झांक रहे हैं और न मालूम उन्होंने कितने वस्सकार के पुत्रों का यहां जाल विछा रखा है। एक वस्सकार यदि वहुत वड़े गणतन्त्र की समाप्ति का निमित्त वन सकता है, तो उसके जैसे छिपे अनेक रुस्तम क्या नहीं कर सकते ? किन्तु, प्रसन्नता इसी वात की है, भारतीय नागरिक सावधान हैं।

नैतिक शिक्षा क्यों और किस प्रकार ?

व्यक्ति सभ्य और सुसंस्कृत शिक्षा के माध्यम से ही बनता है; अतः उसकी प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपरिहार्यता है, यह प्राचीन युग में भी माना गया था और आज भी स्वीकृत है। **'माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः'**—जो अभिभावक अपनी सन्तान को शिक्षित नहीं करते थे, वे उनके शत्रु कहे जाते थे। किन्तु प्राचीन युग में स्वीकृत इस सिद्धान्त को पूर्णतया क्रियान्वित नहीं किया जा सका। इस युग में सरकार ने इसे अपना मुख्य उद्देश्य बनाया है और अन्न व स्वास्थ्य के समान ही शिक्षा-विकास को भी प्रधानता दी है। यही कारण है कि उसे अनिवार्य घोषित किया गया है।

बाह्य और अन्तर-विकास

शिक्षा के माध्यम से अन्तर और बाह्य, दोनों का विकास हो सकता है। बाह्य विकास से तात्पर्य है, जीवनोपयोगी साधनों की सुलभता और अन्तर-विकास से तात्पर्य है, सुलभ साधनों के उपयोग में विवेक की प्रधानता। दोनों में से एक का अभाव भी सामाजिक धुरी को असन्तुलित कर देता है। शिक्षा के बाह्य विकास की उपलब्धियां हैं—कृषि, वाणिज्य, उद्योग, कला, विज्ञान, न्याय, प्रशासन आदि में स्वस्थता। शिक्षा के अन्तर-विकास की उपलब्धियां हैं—सौहार्द सौजन्य, प्रेम, सहिष्णुता, सहभाव आदि। यहीं से शिक्षा के साथ नीति और धर्म का सम्बन्ध जुड़ जाता है। जब तक इन दोनों से समन्वित होकर शिक्षा आगे नहीं बढ़ेगी, तब तक उसमें

निखार नहीं आ सकता। वह केवल तोता-रटन ही रहेगी।

स्वतन्त्रता के बाद शिक्षा को व्यापक बनाने के अनेक प्रयत्न हुए और उसमें सफलता भी मिली है। उसे तेजस्वी बनाने के लिए अब अगले कदम की व्यग्रतापूर्वक प्रतीक्षा है। संख्या में जब बहुत अधिक वृद्धि हो जाती है, तो कठिनताएं भी विशेष बढ़ जाती हैं। उसके लिए पर्याप्त समय और साधनों की अपेक्षा होती है। समय से भी अधिक साधनों के प्रति सजगता आवश्यक होती है। वर्तमान में शिक्षा में ऐसा दौर चल रहा है कि नीति और धर्म—दोनों ही उसमें समाविष्ट नहीं हैं। वह केवल शिक्षा है। सुसंस्कृतता उसमें नहीं है; अतः उसकी उपयोगिता निरापद नहीं है। यही कारण है, स्नातक हो चुकने के बाद भी अधिकांश छात्र स्वयं, परिवार व समाज के लिए इतने उपयोगी नहीं बन पा रहे हैं।

नीति और धर्म

नीति और धर्म, व्यक्ति को एक विशेष दिशा की ओर प्रेरित करते हैं और विशेष प्रकार की अनुभूति जागृत करते है। उसे हम 'तड़प' शब्द से भी व्यक्त कर सकते हैं। शिक्षार्थी के मन में जब तक अपने उद्देश्य की स्पष्टता और उसे पाने की तड़प न हो, तब तक परीक्षा में सफल होकर भी असफल होता है। नीति उसे सामाजिक कर्तव्यों एवं दायित्वों के प्रति जागरूक करती है और धर्म उसके मानसिक स्वास्थ्य को बनाए रहता है। दोनों की सहवर्तिता जीवन में आनन्द का उत्स करती है।

नैतिकता नीति के आंचल में लिपटी रहती है। वह व्यक्ति की व्यावहारिकता को पुष्ट करती है तथा सामाजिक संचालन में योग प्रदान करती है। समष्टि की आवश्यकताएं स्वयं में समाहित हो जाती हैं और उनमें तादात्म्य की अनुभूति व्यक्ति की स्वयं की थाती हो जाती है। यहीं से उसके स्व के केन्द्र का विस्तार आरम्भ हो जाता है, जो उसे हर पहलू में पूर्ण बनाता है।

पर नैतिकता का मूल आधार धर्म होता है। धर्म के माध्यम से बढ़ने वाली नैतिकता में अपने और पराए की अनुभूति नहीं होगी। वहां स्व ही स्व होगा। कोई 'पर' होगा ही नहीं। जब 'पर' की इयत्ता समाप्त होगी,

स्वार्थ स्वतः समाप्त हो जाएगा और असन्तुलन टिक नहीं पाएगा। इस प्रकार नैतिकता धर्म का आश्रय पाकर स्वयं को निखारती है और शिक्षा के क्षेत्र में प्रविष्ट होकर उसे उपयोगी बना देती है।

धर्म मनोभाव का विकास है। मानसिक उच्चता की अवस्थिति में वह बहुत व्यापक बन जाता है तथा उसमें सारा संसार अवगाहित होने लगता है। **'वसुधैव कुटुम्बकम्', 'आयतुले पयासु'** आदि सूक्तियों के अभिप्राय वहां मिलते हैं। किन्तु, धर्म स्वयं में व्यक्त नहीं होता। वह केवल शक्ति है, पदार्थ नहीं; अतः उसे भी अवलम्बन की अपेक्षा होती है। वह अवलम्बन है—नैतिकता। धर्म नैतिकता के आकार में ही व्यक्त होता है।

संक्षेप में कहना चाहिए, धर्मविहीन नैतिकता मूल-विरहित शाखा है और नैतिकता-विहीन धर्म पंख-हीन पक्षी है। धर्म नैतिकता का आधार है और नैतिकता धर्म का आकार है। दोनों का सहभाव दोनों की अभिव्यक्ति और प्रशस्ति में एक-दूसरे को साथ प्रदान करता है।

धार्मिक शिक्षा

प्रश्न है, धर्म-निरपेक्ष राज्य में धर्म को प्रश्रय कैसे दिया जा सकता है? इतने बड़े भारत में अनेक धर्म और सम्प्रदाय हैं। राज्य यदि एक को प्रश्रय देता है तो अन्य धर्मों के साथ न्याय नहीं हो पाता। पर वास्तविकता यह है, भारत में धर्म दो हैं ही नहीं, केवल एक ही धर्म है। संसार भर में भी दो धर्म नहीं हैं। जैन, बौद्ध, वैदिक, सिक्ख, मुसलमान, ईसाई आदि जिन धर्मों का हम उल्लेख करते हैं, उन्हें तो धर्म न कहकर सम्प्रदाय कहना अधिक उपयुक्त होता है। व्यक्ति ने अपनी कल्पना के अनुसार उपासना का प्रकार बना लिया है और उसे ही वह धर्म मान बैठा है। धर्म उपासना से भी अधिक आचार से सम्बन्ध रखता है। आचार-हीन उपासना धर्म का मुखौटा मात्र है। आचार, सत्य, अहिंसा, सौजन्य, सहिष्णुता, सहभाव आदि से परे हो नहीं सकता। यह आचार एक है, और सबका है, अतः धर्म को भी विभक्त नहीं किया जा सकता।

धर्म को सम्प्रदाय को चोगा पहनाकर पीठासीन कर दिया गया। धर्म-नेताओं को सम्प्रदायों की चिन्ता सताने लगी, पर धर्म की नहीं।

अपने-अपने सम्प्रदायों की सुरक्षा के लिए जितना अथक प्रयत्न किया गया, यदि उसका चतुर्थांश भी धर्म के शुद्ध-स्वस्थ स्वरूप को व्यापक बनाने में किया गया होता, तो आज धर्म को तिरस्कार, उदासीनता तथा उपेक्षा का भाजन नहीं बनना पड़ता। वस्तुतः वह धर्म नहीं है, जो साम्प्रदायिकता को उभारने का प्रयत्न करता है।

शिक्षा जगत् में पाठ्य-पुस्तकों के अध्ययन पर तो बल दिया गया, पर उसके साथ नैतिकता और धर्म के बारे में विशेष प्रयत्न नहीं किया गया। यदि किया गया होता, तो नाना भावी आशंकाओं से बचा जा सकता था। पर अब भी समय है और सामूहिक प्रयत्न अपेक्षित है।

नैतिक शिक्षा के प्रकार

छात्रों की संख्या-वृद्धि के साथ अध्यापकों की भी संख्या बढ़ी। यद्यपि शिक्षकों की योग्यता तथा अध्यापन-कौशल के बारे में परीक्षण अनिवार्य हुआ, पर छात्रों के जीवन-परिशोधन में उनकी रुचि नहीं बढ़ी। अभिभावक बहुत कम ऐसे हैं, जो बच्चों के अध्ययन की प्रगति में रस लेते हों। सामाजिक वातावरण दूषित है। कुल मिलाकर शिक्षकों व अभिभावकों की उदासीनता तथा वातावरण की अशुद्धता में अबोध छात्र अपने को सम्भाल नहीं पाया और वह प्रवाह में बहने लगा। पहली आवश्यकता है, छात्र-समाज को बचाने के लिए शिक्षक, अभिभावक तथा वातावरण की शुद्धता का त्रिकोण अभियान आरम्भ किया जाए। इसकी पूर्ति के लिए समय-समय पर शिविरों की अपेक्षा होगी, जिनके माध्यम से शिक्षकों को विशेष प्रशिक्षण दिया जा सके। अभिभावकों की जागरूकता तथा वातावरण की शुद्धता के लिए समाज में वैचारिक आन्दोलन हो। छात्रों में उत्साह भरने के लिए भी शिविर-पद्धति उपयोगी होती है। ग्रीष्मावकाश तथा अन्य प्रसंगों पर उनके समय का नैतिक एवं धार्मिक कार्यों में उपयोग हो।

विद्यालयों में विभिन्न विषयक संगठनों की तरह नैतिक प्रवृत्तियों को बल देने वाले संगठन भी हों। वे केवल वैचारिक ही न हों, बल्कि प्रायोगिक भी हों।

विद्यालयों को जिस प्रकार साम्प्रदायिकता से दूर रखा जाता है, दलगत राजनीति से भी उन्हें सर्वथा अछूता रखा जाए। कुछेक शिक्षक-परोक्ष रूप से दलगत राजनीति को प्रश्रय देते हुए भी देखे जाते हैं। शिक्षण-संस्थान सरस्वती की उपासना के केन्द्र हैं, राजनैतिक अखाड़े नहीं; इस तथ्य की क्रियान्विति में विशेष सजगता बरती जाए। छात्रों के लिए साम्प्रदायिकता जितनी बुरी है, इतनी ही दलगत राजनीति भी बुरी है।

शिविरों के माध्यम से छात्रों में विशेष भावनाएं भरी जाएं। जिन प्रसंगों की भाषण के द्वारा शिक्षा दी जाती है, उन्हीं प्रसंगों पर शिविरों में छात्रों द्वारा मुक्त चिन्तन करवाया जाए। फिर वह विचार ऊपर से आया हुआ न रहकर स्वयं उद्भूत होगा।

पाठ्य विषयों में नैतिक शिक्षा का भी अनिवार्य विषय हो। उसे परीक्षाविधि से अलग न रखा जाए।

इस प्रकार की पाठ्य-पुस्तकों के निर्माण में छोटी-छोटी मर्मस्पर्शी कथाओं को मुख्यता देकर जीवन के आवश्यक नाना पहलुओं का विवेचन हो। कथाओं के माध्यम से कठिन विचार भी सुगमता से मस्तिष्क में अंकित हो जाता है और वह समय पाकर व्यवहार में उतर जाता है। यह पाठ्यक्रम प्रत्येक कक्षा के लिए आवश्यक है।

छात्रों में असन्तोष की मात्रा भी बढ़ती जा रही है। उनकी श्रद्धा का कोई केन्द्र नहीं रह गया है। अध्यापकों व अभिभावकों से यह वर्ग बहुत दूर हो चुका है। ऐसे व्यक्ति विशेष की आवश्यकता है, जो सभी का समान श्रद्धा-भाजन हो सके। ऐसा व्यक्तित्व उभरकर सामने आए तथा उसे लाया भी जाए, यह उससे भी अधिक आवश्यक है। उस व्यक्तित्व का स्वार्थ, साम्प्रदायिकता तथा दलगत राजनीति से सर्वथा दूर होना अत्यन्त आवश्यक है।

आचार्य श्रीतुलसी द्वारा प्रवर्तित अणुव्रत आन्दोलन नैतिक तथा साम्प्रदायिकता-विहीन धार्मिक जागरण के लिए विशेष प्रयत्नशील है। राजस्थान से आरम्भ होनेवाला वह आन्दोलन आचार्यश्री तुलसी के साढ़े छह सौ साधुओं द्वारा देश के कोने-कोने में कार्य कर रहा है। प्रत्येक

सम्प्रदाय तथा विचार वाले व्यक्ति इस आन्दोलन में सम्मिलित हुए हैं तथा हो रहे हैं। शिक्षा-संस्थान इस आन्दोलन के मुख्य केन्द्र रहे हैं।[1]

---

१. २७ से २९ मई, १९६९ को राजस्थान सरकार द्वारा समायोजित चतुर्थ शैक्षिक कार्य संगोष्ठी में शिक्षाशास्त्रियों के बीच दिया गया भाषण।

शिक्षा के विचारणीय पहलू

दिल्ली विश्वविद्यालय के शिक्षा-विशारदों के वीच वोलते हुए मैं हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूं। हम साधुजनों का प्रतिदिन सैकड़ों व्यक्तियों से विचार-विनियम का प्रसंग होता रहता है, किन्तु आज का यह वैचारिक मिलन अपने में एक अनूठी सजीवता लिए हुए है। यह परिसंवाद इस चिन्तन के लिए प्रेरित करेगा कि शैक्षणिक जगत् में अगला कौन-सा कदम उठाना चाहिए, जिससे छात्रों में संयम, अनुशासन, नैतिकता व भावात्मक एकता के संस्कार अधिक जगें। सभी स्वतन्त्र देश अपनी भावी पीढ़ी को सभ्य, सुसंस्कृत व शिक्षित वनाने के लिए कृतसंकल्प हैं। असभ्यता और अशिक्षा किसी भी देश का शृंगार नहीं हो सकती। भारतवर्ष निकट भविष्य में स्वतन्त्र हुआ है। चतुर्मुखी प्रगति के लिए नाना योजनाएं चल रही हैं। वहुत कुछ हुआ है, वहुत कुछ हो रहा है और वहुत कुछ होना अभी अवशिष्ट है। सव तरह की प्रगति का मूलाधार छात्र-समाज है। देश का भावी मानचित्र वैसा ही वन पाएगा, जैसा छात्र-समुदाय होगा। इस दृष्टि से देश की प्रगति का भार विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों व उच्चतर विद्यालयों पर आ जाता है। प्रसन्नता की वात है, आज का प्राध्यापक-वर्ग इस दायित्व को वहुत अंशों में समझता है और यथासाध्य उसे निभाने का भी प्रयत्न करता है। फिर भी उसे और अधिक सक्रिय वनने की आवश्यकता है।

आध्यात्मिक जीवन्तता

अन्धकार किसी को भी इष्ट नहीं है। व्यक्ति स्वयं प्रकाशित रहकर अपने ज्योति-पुंज में दूसरों को भी समेटना चाहता है। इसीलिए वेदध्वनि गुंजित हुई थी : 'आ रोह तमसो ज्योतिः'—'अन्धकार से निकलकर प्रकाश की ओर बढ़ें'। जीवन पक्ष में अविद्या या अज्ञान से बढ़कर और क्या अन्धकार हो सकता है? भगवान् महावीर ने **'णाणं पयासयरं'**—ज्ञान को ही प्रकाश कहा। याचक बनते हुए मनुष्य ने परमात्मा से यही चाहा है : **'प्रियं मा कृणु** **दुवेषु**—'ब्रह्मज्ञानी विद्वानों में मुझे प्रिय बनाया जाए।' आज का विद्यार्थी अपने प्राध्यापक से सबसे पहले यही वरदान चाहेगा, परीक्षा में मुझे प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण किया जाए। किन्तु इस युग के विद्यार्थी में और उस युग के विद्यार्थी में कुछ मौलिक अन्तर अवश्य हो गए हैं। उस युग में शिक्षा का परिणाम **'संगच्छध्वं संवदध्वं'** के रूप में सहभाव, सहवास और साहचर्य था; जोकि मानसिक सजगता और आध्यात्मिक जीवन्तता को स्पष्ट परिलक्षित करता था। किन्तु आज की शिक्षा में भौतिक पक्ष की बलवत्ता से प्रयोगशालाओं में अणु-विस्फोटन से सैकड़ों मेगाटन के बम तैयार हो रहे हैं, जो मनुष्य को प्रलय के कगार पर लाकर खड़ा कर रहे हैं। आज की शिक्षा से चन्द्रलोक तथा अन्य ग्रहों की यात्रा कैसे सम्पन्न की जा सकती है, यह भली भांति जाना जा सकता है, पर अपने पड़ोसी के साथ वह कौन-से व्यवहार से रहे, यह नहीं जाना जा सकता। अन्तरिक्ष में जाकर भार-शून्य होना आज सुसाध्य है, पर इसी पृथ्वी पर भार-शून्य कैसे बन सकता है, मनुष्य इसकी ओर प्रयत्नशील नहीं है। इसका सामाजिक व आध्यात्मिक, दोनों दृष्टियों से बुरा परिणाम सामने आ रहा है।

चैतन्य का विकास

शिक्षा का ध्येय चैतन्य-विकास से हटकर जहां वह जड़-विकास से सम्बद्ध हो जाता है, किसी भी प्रकार का सन्तुलन स्थिर नहीं रह सकता। सरकार और शिक्षा-शास्त्रियों के समक्ष इसीलिए आज की शिक्षापद्धति एक प्रश्नचिह्न बनी हुई है। विद्यार्थी पढ़ता है, किन्तु उसका ध्येय अच्छी

नौकरी पाना ही विशेषतः रहता है। किसान का लड़का खेती से और मजदूर का लड़का मजदूरी से छुटकारा पाने के लिए पढ़ता है। ऑफिस में क्लर्क हो जाना तरक्की है और ऑफिसर हो जाना शिक्षा का परम ध्येय। आज की विद्या में नौकरी है, पर जीवन का आनन्द नहीं। लड़कियां भी पढ़ती हैं, पर वे भी इसी घुड़दौड़ में हैं। वे इसीलिए पढ़ती हैं कि चूल्हे और चक्की से उन्हें छुटकारा मिले। यदि यही ढर्रा चलता रहा, तो सम्भव है, खेत और रसोई खाली हो जाएंगी और ऑफिस व कैंटीन भर जाएंगे। इसलिए आवश्यक है कि शिक्षा के ध्येय में परिवर्तन हो और विद्यार्थी समुदाय उसकी गहराई को आंक सके।

नैतिक शिक्षा की व्यवहार्यता

धार्मिक और नैतिक प्रशिक्षण के अभाव में अनुशासन-हीनता और संस्कृति-शून्यता का पनपना बहुत सहज होता है। सरिता का प्रवाह जब बहुत अधिक उन्मुक्त होकर बहता है, भयंकर उत्पात का कारण बन जाता है और ससीम सरसब्जता का निमित्त। छात्रों में उत्साह, कर्तृत्व व वाक्शक्ति की प्रचुरता होती है। जब तक वह सीमाबद्ध रहती है, देश व समाज के लिए उपयोगी बनती है। धार्मिक और नैतिक प्रशिक्षण के द्वारा युवा-शक्ति को अच्छे लक्ष्य की ओर केन्द्रित किया जा सकता है। किन्तु वह व्यवहार्य कैसे बने, यह एक जटिलतम पहेली है। वर्तमान परिस्थितियों में निर्विरोध धार्मिक शिक्षा का रास्ता शीघ्र ही निकल जाए, कठिन लगता है। किन्तु जीवन के इस मौलिक पक्ष को उर्वर करने के लिए अन्यान्य आवश्यक पाठ्य विषयों की तरह आध्यात्मिकता को भी प्रशिक्षण का आवश्यक अंग बनाया जाए। किन्तु उसमें सम्प्रदाय विशेष की गंध नहीं होनी चाहिए। मानवता के मूलभूत सिद्धान्तों पर ही बल दिया जाए, जो कि सर्वसम्मत हों।

अप्रत्यक्ष राजनीति

जनतन्त्र शासन-व्यवस्था में विभिन्न दलों का होना स्वाभाविक है। मत-स्वतन्त्रता उसे और अधिक बल प्रदान करती है। समान विचारधारा

वाले व्यक्ति सामूहिक रूप से अपनी समस्याओं का समाधान पाने के लिए एक दल का गठन करते हैं। प्रौढ़ व्यक्ति अपने अनुभवों के आधार पर उनका संचालन करते हैं। छात्र-समुदाय को यदि वे ही दल अपनी नीति-प्रसारण का माध्यम चुन लेते हैं, तो वह उनके अपने लिए तथा छात्रों के लिए भी इतना हितकर नहीं होता। विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में होने वाले छात्र-संगठनों के चुनावों में बहुधा देखा जाता है, राजनैतिक दल अप्रत्यक्ष रूप से अपना हाथ रखते हैं। विद्यार्थी उनके औजार बन जाते हैं। विचारक यह आवश्यक मानने लगे है कि कॉलेज-जीवन में छात्रों को चुनावों का अभ्यास हो जाना चाहिए, जिससे जनतन्त्र की स्वस्थ परम्पराओं का श्रीगणेश हो सके। किन्तु यदि वहीं राजनैतिक दल अप्रत्यक्ष रूप से घुस जाते हैं, तो क्या वे अपना विषाक्त रस उन अपरिपक्व घंटों में उड़ेलने का असफल प्रयत्न नहीं करते हैं! विद्यालय, महाविद्यालय विश्वविद्यालय साम्प्रदायिक या राजनैतिक स्वार्थ साधने के अड्डे नहीं हुआ करते हैं। वहां तो मानवता का निर्माण होता है। अन्यान्य वस्तुओं के उत्पादन में बड़े-बड़े कारखाने योगभूत हो सकते हैं, किन्तु मानवता के निर्माण का केन्द्र शैक्षणिक संस्थानों के अतिरिक्त अन्य नहीं हो सकता, अतः उन्हें साम्प्रदायिक व राजनैतिक रंग से बचाया जाए। प्रत्यक्ष रूप से विद्यार्थियों का राजनैतिक दलों का सदस्य होना अवैध है, किन्तु अप्रत्यक्ष प्रवेश उससे भी अधिक घातक सिद्ध हो रहा है। कितना सुन्दर हो, यदि उन छात्र-संगठनों के माध्यम से आध्यात्मिक चेतना का विशेष कार्य किया जाए।

पुस्तकों के माध्यम से तद्विषयक ज्ञान हो जाता है, किन्तु जीवन-व्यवहार की शिक्षा का माध्यम अध्यापकों का जीवन ही होता है। अच्छी पुस्तक से अच्छा अध्यापक अधिक उपयोगी होता हैं।

अणुव्रत आन्दोलन चैतन्य को स्फूर्त करता है। वह अध्यात्म को जीवन की अनिवार्य आवश्यकता मानता है। साम्प्रदायिकता और दलगत राज-नीति को समान रूप से ही विषाक्त मानता है। छात्र-समुदाय में अनुशासन-संयम, नैतिकता व भावात्मक एकता के लिए उनके स्वयं के, अभिभावकों, अध्यापकों तथा दोस्तों के जीवन को तदनुरूप सुसंस्कृत, शिक्षित व सुसभ्य

आवश्यक समझता है। गत वर्षों में आचार्यश्री तुलसी के नेतृत्व में ६५० साधु-साध्वियों ने आन्दोलन को प्रत्येक वर्ग में पहुंचाया है। शैक्षणिक जगत् आन्दोलन का विशेष कार्यक्षेत्र रहा है। आन्दोलन व्यक्तिगत सम्पर्क, सामूहिक सभाओं और साहित्य के माध्यम से विद्यार्थी-समुदाय के बीच भी पहुंचा है। प्रसन्नता की बात है, गत दस वर्षों से दिल्ली आन्दोलन का मुख्य कार्यक्षेत्र रही है। मुनिश्री बुद्धमल्लजी व मुनिश्री नगराजजी के निदेशन में यहां विभिन्न वर्गों में सुन्दर कार्य हुआ। वर्तमान में हम तीन दल यहां कार्य कर रहे हैं। अन्य वर्गों की तरह दिल्ली विश्वविद्यालय तथा इससे सम्बद्ध महाविद्यालयों में भी समय-समय पर कार्य होता रहा है। आचार्य और प्राध्यापक विशेष रूप से भाग लेते रहे हैं। आज के इस परिसंवाद में उपस्थित शिक्षा-विशारदों के चिन्तन से प्रसूत पद्धतियों से छात्र-जीवन में संयम, अनुशासन और एकता की अभिवृद्धि होने में विशेष बल मिलेगा। संक्षेप में परिसंवाद के विचारणीय विषयों को इस प्रकार दुहराया जा सकता है :

१. शिक्षा के उद्देश्य में परिवर्तन हो। उससे जीवन के सहज भाव अध्यात्म का भी स्फुरण हो।

२. आध्यात्मिकता को भी अन्य विषयों की तरह प्रशिक्षण का एक विशेष अंग बनाया जाए।

३. विद्यार्थी संगठनों को अप्रत्यक्ष दलगत राजनीति से बचाया जाए और उन्हें नैतिक जागृति का अग्रदूत बनाया जाए।

४. अध्यापकों का जीवन-स्तर समुन्नत हो।[1]

---

१. 'योजना' (पाक्षिक) १२ सितम्बर, १९७१ में प्रकाशित।

वर्तमान युग के सन्दर्भ में महावीर के सन्देश

महावीर आज से लगभग ढाई हज़ार वर्ष पूर्व निर्वाण प्राप्त हुए थे। उससे पूर्व उन्होंने बहत्तर वर्ष की अवस्था में, तीस वर्ष गृहस्थ जीवन में विताए, वारह वर्ष साधना में लगाए और अन्तिम तीस वर्ष तक उन्होंने जनता को सन्देश दिया। यह तो स्वाभाविक ही है कि प्रत्येक चिन्तक के समक्ष वर्तमान की समस्याएं ही प्रमुख रहती हैं, अतः वह उन पर ही चिन्तन करता है तथा उन्हें ही समाहित करने की समाज को दिशा देता है। महावीर के साथ भी यही हुआ होगा। वे भी इसके अपवाद कैसे रह सकते थे ?

इस युग तथा महावीर-युग के मध्य ढाई हज़ार वर्ष की लम्वी अवधि रही है। इस वीच अनेक नई समस्याएं भी उभरी हैं। ज्ञान-विज्ञान आगे वढ़ा है। शिक्षा और साहित्य के अनेक नये उन्मेष हुए हैं। मनुष्य की ग्राहक शक्ति सहज विकसित हुई है। तो क्या हमें यही मानना चाहिए कि आज की समस्याओं का समाधान भी महावीर ने ढाई हज़ार वर्ष पूर्व दे दिया था। यदि यह सही होगा, तो भविष्य के हज़ारों वर्षों में उभरने वाली समस्याओं का समाधान भी तब तो महावीर ने दे दिया होगा। फिर तो नये चिन्तन, नई खोज या नये उपक्रम की इस पीढ़ी या भावी पीढ़ी को कोई अपेक्षा ही नहीं होगी।

वहुत वार महावीर को श्रद्धा की आंख से देखा जाता है। उस समय महावीर अतिमानव दिखलाई पड़ते हैं और सभी व्यक्तियों के मानस पर यह नशा छाता है कि महावीर ने जो कुछ कहा है, वह सर्वकालिक है।

उसके बारे में अन्य अनुचिन्तन की आवश्यकता व अपेक्षा नहीं है। यही कारण था, महावीर के अनुयायी-वर्ग का चिन्तन समय के साथ नये आकार न ले सका। कहना चाहिए, महावीर के साथ भी उनका अनुयायी वर्ग न्याय न कर सका। उन्होंने भक्त बनकर महावीर के शब्दों को पकड़ा, पर उनकी गहराई में नहीं पहुंचे। उन्होंने साधना की अन्तिम भूमिका के इन शब्दों को पकड़ा—**सव्वे सरा नियट्टन्ति, तक्का तत्थ न विज्जई, मई तत्थ न गाहिया**—वहां पर सभी शब्द (स्वर) निवृत्त हो जाते हैं, तर्क हतप्रभ हो जाती है और बुद्धि निष्फल। और यहीं से अनुयायी वर्ग ने यह रटन आरम्भ कर दी—तर्क मत करो, केवल श्रद्धाशील ही रहो। इसी प्रकार साधना के उच्च फल को पाया जा सकेगा। किन्तु साधना का प्रारम्भ करने वाले साधक के लिए साधना की यह अन्तिम स्थिति किस प्रकार उपादेय हो सकती थी? और यदि यही उपादेय होती, तो गणधर गौतम जैसे उद्भट विद्वान् शिष्य भी महावीर से स्थान-स्थान पर जिज्ञासा कैसे करते—'केणं, भन्ते ?'—'भगवन् ! यह कैसे ?' गौतम ने जितने प्रश्न पूछे तथा महावीर से जितने तर्क किए, क्या यह इस बात का ज्वलन्त प्रमाण नहीं है कि महावीर प्रत्येक व्यक्ति को तर्क का स्वतंत्र अवसर देते थे।

गौतम बुद्ध ने अपने सान्ध्य में शिष्यों को कहा—"भिक्षुओ ! मैं जो कहूं, वह परम्परागत है, इसलिए सच मत मानना; लौकिक न्याय है, ऐसा मानकर सच मत मानना; सुन्दर लगता है, ऐसा समझकर सच मत मानना; तुम्हारी श्रद्धा का पोषक है, इसलिए सच मत मानना; मैं शास्ता हूं, पूज्य हूं, ऐसा मानकर सच मत मानना; ऐसा ही होगा, मानकर सच मत मानना, किन्तु तुम्हारा हृदय और मस्तिष्क जिस बात को विवेकपूर्वक ग्रहण करते हों, उसे ही सत्य मानना।" यह उनकी बोधि का सार था। कोई भी दृष्टा किसी भी परिस्थिति में व्यक्ति के चिन्तन के स्वतंत्र अधिकार को अपने हाथ में ले नहीं सकता। महावीर भी वीतराग दृष्टा थे। वे सहज स्थिति-सम्प्राप्त थे। जो व्यक्ति स्वयं यथार्थ है, क्या वह यथार्थ की सीमा को अपने तक ही सीमित रखता है? बहुत बार व्यक्ति अपने पर श्रद्धा का कवच इस प्रकार लगा लेता है कि वह फिर चक्षुष्मान्

नहीं रह पाता ? क्या महावीर ने यही प्रेरणा दी थी ? श्रद्धा और तर्क की प्राथमिकता में उन्होंने तर्क को अग्रणी माना था।

सहज ही प्रश्न होता है—तो क्या महावीरका सन्देश उस युग के लिए ही पर्याप्त था, इस युग के लिए नहीं ? यदि ऐसा ही है, तो प्रस्तुत उपक्रम किसलिए ? उत्तर स्पष्ट है, श्रद्धा की आंख को वन्द कर यदि सहज भाव से देखें, तो अनेक नये आयामों के द्वार खुलेंगे और उससे प्रस्तुत प्रसंग का यथार्थ उद्घाटन भी हो सकेगा। अतिनिर्वाह का उपक्रम स्थगित होगा और अतिरंजकता को कोई स्थान नहीं रहेगा।

जव किसी भी धर्माचार्य को मानव-मर्यादा तक सीमित रखा जाता है, तो यथार्थता का वोध सुगमता से होता है। क्योंकि कोई भी धर्माचार्य समस्याओं का मानवीय रूप ही अपने सम्मुख रखता है और उसी परिवेश में आगे वढ़ता है। हर युग की समस्याएं समान होती हैं। केवल उनका परिवेश ही वदलता है या उनके समाधान का तरीका। कुछ महापुरुप उन समस्याओं को पकड़ते तो सहज रूप में हैं, पर उनके समाधान के तीव्र प्रयत्न नहीं करते। कुछ तीव्र प्रयत्न करते हैं और वे सफल भी होते हैं। जो सफल होते हैं, उनके परिणाम युगों-युगों तक स्मरणीय रहते हैं और उनके आलोक में हर वर्तमान अपना नया मार्ग खोजता है। महावीर के समक्ष भी जो मानवीय समस्याएं उभरीं और उन्होंने जो समाधान दिए, समस्याओं की समानता होने के कारण इस युग में भी वे उपादेय वनते जा रहे हैं।

महावीर के सन्देश मुख्यतः तीन भागों में वांटे जा सकते हैं: १. अहिंसा, २. अपरिग्रह ३. अनेकान्त। स्थूल दृष्टि से ये तीनों ही वैयक्तिक कहे जाते हैं। चिन्तकों की मान्यता है, उस युग में व्यक्तिगत समस्याएं अधिक थीं, अतः महावीर ने अपने सन्देश में अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त को वहां तक ही सीमित रखा। वर्तमान का युग समाजीकरण का है। हर समस्या सामुदायिक रूप से उत्पन्न होती है और वह सामुदायिक समाधान ही चाहती है; अतः उस युग के वैयक्तिक समाधान इस युग के लिए उपयोगी कैसे हो सकते हैं ? किन्तु महावीर-कालीन स्थितियों के साथ यह चिन्तन यथार्थ नहीं है। कहना चाहिए,

उस युग की तथा वर्तमान युग की अनेक समस्याएं समान हैं और उनमें कथन मात्र का ही परिवर्तन है; इसलिए ढाई हजार वर्ष पूर्व दिया गया समाधान भी वर्तमान में उपयोगी हो सकता है।

अहिंसा

उद्बोधन

महावीर ने कहा—"इस अखण्ड ब्रह्माण्ड में अहिंसा भगवती ही भयभीतों का शरण है, पक्षियों का पंख है, प्यासों का पानी है, भूखों का अन्न है, समुद्र-यात्रियों का पोत है और वन-यात्रियों के लिए सार्थ है। अहिंसा इसीलिए विशिष्टतर मानी गई।" यह अहिंसा का गौरव वाक्य है।

उन्होंने अज्ञानी मनुष्य को सजग करते हुए कहा—"अपने ही जैसे अन्य सुखार्थी प्राणियों के प्राण-वियोजन से तू सत्, चित, आनन्द की कल्पना करता है, परन्तु याद रख, यह अज्ञान की पराकाष्ठा है। प्राणि-मात्र जीना चाहता है, मरना कोई नहीं चाहता। प्राणि-वध महापाप है। जिस प्रकार तुझे अपना जीवन प्रिय है, वैसे ही सबको अपना-अपना जीवन प्रिय है। जो मनुष्य अन्य प्राणियों की हिंसा करता है, वह अपने ही लिए संसार में वैर बढ़ाता है[१]।"

दमन, अनाक्रमण और दास-प्रथा पर करारा प्रहार करते हुए कहा—"मानव! सच बात तो यह है कि जिसे तू मारना चाहता है, दुःख देना चाहता है, गुलाम बनाना चाहता है, संताप-परिताप देना चाहता है, वह अन्य कोई नहीं, तू ही है। जिसे तू पर-पीड़न समझता है, अन्ततोगत्वा वह स्व-पीड़न ही है। दूसरों को मारता हुआ तू भूल जाता है, मरता वह नहीं है, तू ही है। दुष्कर्मों का फल अनिवार्य है[२]।"

---

१. सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुह पडिकूला अप्पियवहा पिय जीविणो जीविउ कामा। सव्वेसिं जीवियं पियं, नाइवइज्ज किंचणं।
—आचा० १. २. ३.

२. तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वंति मन्नेसि, तुमंसि नाम सच्चे वजं अज्झावेयव्वंति मन्नेसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं परियावेयव्वंति मन्नेसि, एवं जं परिवित्तव्वंति मन्नेसि, जं उद्‌दवेयव्वंति मन्नेसि अंजूचेय पडि वुद्ध जीवी।
—आचा० १. ५. ४.

प्रबुद्ध वर्ग द्वारा होनेवाली हिंसा को चुनौती देते हुए महावीर ने कहा—"मनुष्य ! तू ज्ञानी होने का दम्भ भरता है, पर ज्ञानी होने का सार तो यह है कि किसी प्राणी की भी हिंसा न की जाए। अहिंसा और समता ही वस्तुतः विज्ञान है।"[१]

आत्महत्या

महावीर ने अहिंसा पर विशेष वल दिया। प्रश्न होता है, उन्हें इसके लिए आवश्यकता क्यों अनुभूत हुई। समाधान भी सहज है। उस युग में वैयक्तिक, सामाजिक, धार्मिक तथा राष्ट्रीय हिंसाओं का उन्मुक्त वातावरण था। अहिंसा कथन मात्र थी और हिंसा चारों ओर छा रही थी। आश्चर्य तो यह है, हिंसा ने भी मुखौटा अहिंसा का ही लगा रखा था। नगण्य-सी उलझन से पराभूत होकर व्यक्ति स्वयं की हिंसा के लिए भी अग्रसर हो जाता था। सामान्य जनता व सम्पन्न व्यक्ति उसमें कोई भी अपवाद नहीं थे। महारानी चेलना यदि मगध सम्राट् श्रेणिक से एक तुच्छ प्रसंग पर रूठकर आत्महत्या को चल पड़ती है, श्रेणिक स्वयं आत्महत्या कर ही लेते हैं, तो सामान्य जनता के लिए क्या कहा जा सकता था ? यह अपने द्वारा अपनी हिंसा थी। महावीर ने अनाचार-सेवन के गुरुतर पाप के साथ इस पाप को भी जोड़ते हुए समाज में वातावरण बनाया।[२] अन्य अनेक प्रसंगों पर भी आत्म-हनन की हेयता पर उन्होंने तीव्र प्रहार किया।

शाश्वतिक समस्याओं में आत्महत्या की भी एक समस्या है। व्यक्ति जब अत्यधिक निराशाओं और कुण्ठाओं से भर जाता है, जीवन से केवल उदासीन ही नहीं होता, अपितु उसे समाप्त करने पर भी उतारू हो जाता

---

१. एवं खु णाणिणो सारं जं न हिंसइ किंचणं।
अहिंसा समयं चेव एयावन्तं वियाणिया ॥

—सूत्रकृतांग, श्रु० १, अ० ११, गा० ९

२. सत्थग्गहणं विसभक्खणं च, जलणं जलप्प वेसो य।
अणायार भंडसेवी, जम्मण मरणाणि बंधंति।

—उत्तरा० ३६, गा० २६६

है। यह पलायन है। व्यक्ति पुरुषार्थ के साथ जूझता हुआ आगे बढ़े तथा हीनता व निराशा में पगे नहीं, यह उसकी साधना है। इस प्रकार के जीवन की समाप्ति कष्टों की समाप्ति नही है। महावीर ने तत्कालीन राजपुत्रों, श्रेष्ठि-पुत्रों तथा जन सामान्य में इस भावना का प्रवल प्रसार किया तथा आत्महत्या जैसी दुष्प्रवृत्ति को समाप्त करने में वे सफल भी हुए।

दास-प्रथा

दास-प्रथा हिंसा का सामाजिक रूप था। परिस्थिति से प्रताड़ित व्यक्ति यदि एक वार दास वन गया, तो वह कोल्हू के वैल की तरह अपने स्वामी के परिपार्श्व में चक्कर लगाता हुआ अपना पूरा जीवन ही समाप्त कर देता था। उसे मुक्त होने का कोई अवसर ही नहीं मिल पाता था। महावीर एक राजपरिवार में तीस वर्ष तक रहे थे। उन्होंने इस समस्या को गहराई से परखा था, अतः इसे समाहित करने का प्रवल आन्दोलन समाज में आरम्भ किया। उन्होंने समाज का इस ओर विशेप ध्यान आकर्षित करने के लिए एक दासी (चन्दनवाला) को अपने साध्वी-संघ की अग्रणी (प्रवर्तिनी) का पद प्रदान कर गौरवान्वित किया। यह घटना दासों के उद्धार और नारी-जाति के उच्च सम्मान की प्रतीक थी। गौतम वुद्ध जैसे धर्म-नायक महिलाओं को अपने संघ में सम्मिलित करते हुए भी झिझके तथा कुछ समय तक इस पर अड़े भी रहे कि महिलाओं को संघ में स्थान नहीं दिया जाना चाहिए, किन्तु महावीर ने इससे वहुत पूर्व ही उन्हें संघ में गौरवपूर्ण स्थान प्रदान कर दिया था। वे वद्धमूल विचारधारा के पोपक व विस्तारक नहीं थे, अपितु यथार्थ के उपासक थे।

वर्तमान युग में दासों का परिवर्तित रूप नौकर है। किन्तु वह समाज कभी उन्नत नहीं कहला सकता, जिसमें नौकरों की संख्या अधिक होती है या वहुसंख्यक जनता को नौकरी के लिए विवश होना पड़ता है। दलित व परिस्थितियों से प्रताड़ित व्यक्तियों को संस्कारी वनाने का उग्र आन्दोलन करना होगा और समाज में ऐसे वातावरण का निर्माण करना होगा, जिससे दासों व नौकरों की अनुभूति व आवश्यकता ही समाप्त हो जाए। मनुष्य को क्या अधिकार है कि कुछ रुपयों में वह किसी से शारीरिक सेवा

लेकर अपने ही समान व्यक्ति में हीनता उत्पन्न करे। महावीर को यही अभिप्रेत था। उनकी घोषणा थी—"अहिंसा के विकास से इन मूल्यों को बदला जाए।" विकसित देशों में आज यह उत्क्रान्ति हुई है। वहां ऐसी परिस्थितियां निर्मित हो गई हैं कि नौकरों की आवश्यकता ही नहीं रही है तथा चाहने पर भी वहां नौकर नहीं मिल पाते। अपना नौकर अपने को ही बनना पड़ता है। वह दिन मानव-इतिहास में स्वर्णिम होगा, जब संसार में कोई किसी का दास या नौकर नहीं होगा।

हिंसक यज्ञ

हिंसा अन्यान्य क्षेत्रों में व्यापक होने के साथ-साथ धार्मिक क्षेत्रों में भी अपना पंजा फैला चुकी थी। यज्ञ-यागों में अनगिन मनुष्यों व निरीह पशुओं की उन्मुक्त बलि इसका प्रत्यक्ष प्रमाण थी। समृद्धि, सत्ता व स्वर्ग के प्रलोभन में व्यक्ति चुंधिया गया था। वह अपने लिए चाहे जिसे उजाड़ने में नहीं सकुचा रहा था। खून की नदी बहाते हुए वह हर्ष व उन्माद में भर जाता था। महावीर ने हिंसा में पगे उस व्यक्ति को ललकारा और कहा —"रक्त से सना वस्त्र रक्त से नहीं धोया जा सकता। पापों की विशुद्धि किसी की बलि से नहीं हो सकती। उसके लिए तो मैत्री से परिपूर्ण मानस चाहिए। जो बलि में विश्वास करता है, वह अपने लिए खड्डा खोदता है।"

महावीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा—"तप रूप अग्नि है, जीव ज्योति स्थान है, मन, वचन और काया के योग कड़छी हैं; शरीर कारिषांग है, कर्म ईंधन है और संयम-योग शान्ति-पाठ है। ऐसे ही होम में हवन करना चाहिए। यही होम प्रशस्त कहा गया है।"[1] मनुष्यों और पशुओं के लिए उन्मत्त व्यक्ति की आत्म-बुद्धि का यह जागरण था और इसकी फलश्रुति थी—धर्म का अधर्म से पल्ला छुड़ाकर यथार्थ में प्रतिष्ठित करना। इन्द्रभूति, अग्निभूति जैसे कर्मकाण्डी यज्ञ-परायण विद्वान्

---

१. तवो जोई, जीवो जो इठाणं, जोगा सुया, सरीरं कारि संगं।
कम्मेहा संजमजोगसन्ती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं॥
—उत्तरा० १२.४४

महावीर के उपपात में पहुंचे तथा वे सदैव के लिए यज्ञों की हिंसा से मनसा, वाचा, कमर्णा पराङ्मुख हुए।

जातीय उन्माद

दास-प्रथा के साथ-साथ जातीय उन्माद भी पूरी तरह अपने पंख फैला चुका था। अपने ही समान आकृति, सम सौन्दर्य तथा समान विशेषताओं से सम्पन्न होने पर भी एक व्यक्ति इसलिए तिरष्कृत होता था कि उसका जन्म अछूत जाति में हुआ था। जाति के कारण असाधारणता भी साधारणता में ही नहीं; निम्नता में भी बदल जाती थी। 'मैं महान्' का नशा कल्पनातीत था। स्वयं की उच्चता अन्य व्यक्तियों की हीनता में मुखर होकर धन्य हो रही थी। महावीर ने मानवीय दृष्टि दी। उच्चता व अवनतता की विशेष अनुभूतियों पर व्यंग्य कसते हुए उन्होंने कहा—"जाति-भेद क्लिष्ट कर्म-बन्धन का कारण है। मनुष्य बड़ा व पूज्य जाति से नहीं; अपितु त्याग, तप और अहिंसा से है। तप की ही प्रधानता है, न कि जाति की। अपने द्वारा होने वाले सत्-असत् कार्य में ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शुद्र होने में निमित्त होते हैं। अछूत जाति से नहीं, आचरणों से होता है। दूसरों को हीन समझनेवाला ही वस्तुतः अछूत है।"

मानव की मानव के प्रति घृणा से बढ़कर हिंसा का और क्या उदारहण हो सकता था? उन्होंने इसके विरुद्ध जनमत तैयार किया। **समया सव्वभूयेसु**—सब प्राणियों में समता की अनुभूति का जागरण किया। शौच धर्म को प्रधान मानकर अन्य को अपवित्र माननेवाले पंडित महावीर के धर्म-संघ में दीक्षित हुए और पददलित तथा अछूत जाति से आनेवाले साधकों की सहवर्तिता में उन्होंने साधना की अलख जगाई। मुनि हरिकेशबल की घटना इसकी ज्वलन्त प्रतीक है।

महामात्य अभयकुमार महावीर के उपदेशों को जीवन-दर्शन मानकर चलता था। उसने अपने पिता व मगध के एकछत्र शासक श्रेणिक को सिंहासन से नीचे खड़ा कर तथा एक मातंग (चाण्डाल) को सिंहासन पर बिठलाकर महावीर के समता सिद्धान्त का राजसभा में प्रयोग किया था। एक लकड़हारे को दीक्षित कर महावीर ने गरीबों को अपने संघ में

महत्त्वपूर्ण स्थान दिया था। वहां महामात्य अभयकुमार ने प्रमुख सभासदों के बीच उसी लकड़हारे मुनि को विधिवत् वन्दन कर त्याग और तपस्या की सार्वभौमिकता के प्रति अपनी गहरी आस्था प्रकट की थी। महावीर के मुख्य उपासकों में किसान, कुम्भकार और पूनी कातनेवालों का भी अग्रणी स्थान होना अध्यात्म के प्रति सार्वजनीनता को प्रकट करता है।

आक्रमण और उपनिवेशवादी वृत्ति

राजनैतिक दांव-पेच हर युग में चलते रहे हैं। दमन और आक्रमण की मनहूस प्रवृत्तियों के द्वारा उपनिवेशवादी वृत्तियां बढ़ती रही हैं। प्रगति की भावना को अपने में थामे हुए व महत्त्वाकांक्षाओं को अपने में संजोए हुए अनेक व्यक्ति हो सकते हैं। किन्तु मेरे से अधिक कोई भी प्रगति न कर जाए तथा मेरी महत्त्वाकांक्षाओं में ही सभी सिमटे रहें, यह अधिनायकवाद विप्लव व संघर्ष को जन्म देता है। साथ ही वंश-परम्परा के साथ सम्बद्ध होकर वह अपनी सन्तान के लिए सब कुछ सुरक्षित कर लेता है और दूसरे व्यक्तियों की भावना को कुछ भी स्थान नहीं देता। यहीं से युद्ध को प्रश्रय मिलता है। एक अधिनायक अपने लिए लाखों व्यक्तियों का बलिदान ले सकता है, किन्तु वह किसी के लिए अपना अनुदान भी नहीं दे सकता। परिणाम होता है, प्रतिस्पर्धा की वृद्धि और घात-प्रतिघात में आए दिन युद्धों को न्योता। महावीर ने कहा—युद्ध मानवीय समस्याओं का समाधान नहीं है और न ही शान्ति-स्थापना का कोई विधान भी। युद्धों के द्वारा अहं का ही केवल विस्तार होगा। यदि युद्ध करना ही है, तो **अप्पाणमेव जुज्झाई किं ते जुज्झेण वज्झओ**—अपने से युद्ध करो, अन्य से नहीं।

अधिनायकवादी प्रवृत्ति के उन्मूलन के लिए ही उस युग में गणतन्त्र का उदय हुआ। महावीर के परम उपासक राजाओं ने उसका प्रयोग किया और छोटी-छोटी इकाइयों को केन्द्र बनाकर राज्य-व्यवस्था का विकास किया। अनेक इकाइयों को संयुक्त कर शासन-संचालन में एकसूत्रता भी रखी गई थी। उस समय की गणतंत्रात्मक व्यवस्थाओं की संख्या ७७०७ थी, जो 'संघ राज्य' के नाम से पुकारी जाती थी। उपनिवेशवादी

वृत्तियों को उन्होंने सदा ही घातक माना और आक्रमण की सदा ही सचोट शब्दों में भर्त्सना करते रहे। सह-अस्तित्व की भावना को उन्होंने आवश्यक माना और सह-अवस्थान की बलवती प्रेरणा दी।

दान, सेवा और परोपकार

व्यक्ति को परिवार, समाज व देश से सेवाएं लेनी भी होती हैं तथा देनी भी होती हैं। लेने व देने का यह क्रम व्यवहार-संचालन का माध्यम बनता है। किन्तु जो व्यक्ति सब प्रकार की सेवाएं लेता है, पर देते हुए वह धार्मिक होने का दम्भ भरता है, तो इससे बढ़कर स्वार्थ का घिनौना उदाहरण दूसरा क्या हो सकता है? इस प्रकार समाज-व्यवस्था की धुरी के हिलने का वह निमित्त बन जाता है। बहुत सारे चिन्तकों ने इसके लिए दान, सेवा व परोपकार का आरम्भ किया। उन्होंने दीन व्यक्तियों की व्यवस्था के लिए दान, असहायों की सहायता के लिए सेवा तथा समाज के हर प्रकार के कार्यों के संचालन के लिए परोपकार आदि शब्दों को प्रधानता दी। भगवान् महावीर का इस सन्दर्भ में सन्देश था—'दान, सेवा व परोपकार अहं तथा हीन भावना से मुक्त रहना चाहिए। दान का आविर्भाव दया की भावना पर आधारित होता है और दया सर्वदा दुःखित व पीड़ित की सहानुभूति में पैदा होती है। जब मानव-वेदनाएं नष्ट हो जायेंगी, दया तथा दान के लिए कोई अवसर ही नहीं रहेगा।"

महावीर ने कहा—"व्यक्ति जब समाज से सेवा लेता है, तो उसे दया की अनुभूति नहीं होती। तब क्या कारण है, जब वह सेवा देता है, तो वह किसी पर दया कर रहा है, यह अनुभूति हो। जब ऐसी अनुभूति होती है, व्यक्ति स्वयं में महत्ता का आरोप करता है तथा दूसरे को हीन समझता है। यह चिन्तन हिंसा के उत्स का निमित्त बनता है और अहिंसा अहं की परतों के नीचे दब जाती है।"

महावीर की स्पष्ट घोषणा थी—"न तो दान देने वाला महान् होता है और न लेने वाला हीन। दोनों ही समाज की अपेक्षाओं को पूर्ण करने का प्रयत्न करते हैं।"

जनतन्त्र-पद्धति में शिक्षा, चिकित्सा, आश्रय आदि समस्त व्यवस्थाएं

सरकार करती है। दान देने तथा सेवा करने से व्यक्ति धार्मिक बनता हो, तो क्या जनतन्त्र में सारा धर्म सरकार ही बटोर लेगी? रूढ़ विचार वालों को गम्भीरता से इस पहलू पर सोचना होगा। अपने द्वारा दिया जाने वाला चन्द रुपयों का दान स्वर्ग की सीट सुरक्षित करने में यदि सहायक बनता है तो सरकार उसकी अधिकारिणी क्यों नहीं होती? सरकार जनता से कर लेकर, जनता के योग-क्षेम की व्यवस्था करती है। जनता के पैसे का उपयोग वह जनता के लिए ही तो करती है। इसी प्रकार समाज के कुछ व्यक्ति मिलकर समाज से धन-संग्रह करते हैं और उसका उपयोग समाज के लिए करते हैं। दाताओं और व्यवस्थापकों के लिए स्वर्ग व मोक्ष की सीट सुरक्षित होने की बात समझ में नहीं आती। वह तो कर्तव्य-पालन का एक उपक्रम मात्र है।

वर्तमान युग में व्यक्ति ने स्वतन्त्र चिन्तन का अभ्यास और स्वाभिमान-पूर्वक जीने का संकल्प किया है। वह किसी की दया पर जीवित रहे, यह उसे स्वीकार्य नहीं है। ऐसी स्थिति में कोई वर्ग यदि अपने ब्लैक की आय से समाज को कुछ अनुदान देकर परोपकार का दम्भ भरता है, तो समाज उसे सहन करने वाला नहीं है। महावीर ने ऐसे व्यक्तियों की भावना की तीव्र भर्त्सना की है तथा उन्हें घोर पातकी के रूप में उल्लिखित किया है।

विश्व : एक परिवार

व्यक्ति इकाई है, पर वह समुदाय के साथ सम्बद्ध हो गया। उसकी बुराई या भलाई का परिणाम दूसरों पर होने लगा और वह उनके साथ सम्बद्ध भी हो गया। व्यक्तिगत जीवन में अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह आदि के आचरण की अनिवार्यता होते हुए भी बहुत अधिक उपयोगिता नहीं रही; क्योंकि वहां परीक्षण का कोई अवकाश नहीं है। किन्तु जब से सामुदायिक जीवन जीने का वह आदि हुआ है, अहिंसा आदि सिद्धान्त उसकी कड़ी कसौटी भी बन गए। व्यावहारिक क्रियाएं नाना प्रतिक्रियाओं को जन्म देने लगीं और वे ही प्रतिक्रियाएं अध्यात्म के लिए प्रश्नचिह्न बन गईं। महावीर ने, अहिंसा अपरिग्रह आदि को वैयक्तिक साधना तक ही सीमित नहीं रखा, अपितु उन्हें सामुदायिक रूप भी दिया।

व्यक्ति इकाई से जब समुदाय में आया, छोटे-छोटे समुदायों में उलझ गया। कहना चाहिए, वहां उसकी ममता उभर आयी और वह अपने विराट लक्ष्य को भूल गया। उसे जहां विश्व को ही स्व में विलीन करना था, या स्व का विश्व में विलय अपेक्षित था, वहां वह उसे भूलकर छोटी-छोटी सीमाओं में घिर गया। अहिंसा का विकास करने के लिए बढ़े हुए चरण स्वत्व तथा परत्व की झाड़ियों में अटक अए और वे हिंसा के निमित्त बन गए। महावीर ने कहा—**आयतुले पयासु**—'अपने समान ही अन्य प्राणियों को समझो'। अर्थात् दूसरों की अपने प्रति जैसी अनुभूतियां व प्रवृत्तियां अपेक्षित हैं, वैसी ही अनुभूतियां व प्रवृत्तियां दूसरों के प्रति भी तुम्हारी होनी चाहिए। किसी में भी परत्व-बुद्धि नहीं होनी चाहिए। परत्व-बुद्धि भेद को जन्म देती है और यहीं से असमानता का स्रोत फूट पड़ता है। स्वत्व के विस्तार से सभी में आत्म-अनुभूति होगी और ममता का धागा अपने आप टूटता चला जाएगा। फिर व्यक्ति का चिन्तन परिवार तक ही केन्द्रित नहीं होगा। वह समस्त संसार को ही परिवार मानकर चलेगा।

शत्रु तथा मित्र

कुछ चिन्तकों का कथन है, शत्रु के साथ भी प्यार करो। महावीर का चिन्तन इससे आगे था। उन्होंने कहा—"शत्रु के साथ प्यार में शत्रुता का अस्तित्व तो स्वीकृत हो ही जाता है। अहिंसक के लिए यह उचित नहीं है। वह तो किसी को शत्रु माने ही नहीं। **मित्ति मे सव्वभूयेसु**—सब प्राणियों में मेरी मित्रता है। **वैरं मज्झ न केणई**—किसी के साथ वैर है ही नहीं; यह उसका आदर्श होता है।"

मानवीय समस्याओं को समाहित करने के लिए अहिंसा के क्षेत्र में महावीर ने आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व जो प्रयोग किए, आज भी उनकी अनिवार्यता प्रतीत होती है। उनका वह संदेश समय के बाहु-पाश में जकड़े जाने के बावजूद भी सामयिक है; क्योंकि वे समस्याएं समाप्त नहीं हुई हैं, अपितु दूसरा कवच पहनकर समाज में उभर आयी हैं।

अपरिग्रह

इच्छा-परिमाण

परिग्रह की सार्वभौमता हर युग में रही और वह अध्यात्म-भावना को निगलती भी रही। जातीय उच्चावचता की तरह सम्पत्ति की उच्चावचता भी मानवीय वृत्तियों पर कुठाराघात में संलग्न रही। अहं और हीन अनुभूतियों की सर्जना से सामाजिक संघर्ष अवश्यम्भावी था। महावीर ने इसका अनुभव किया और 'इच्छा-परिमाण' का मंत्र दिया। साथ ही विसर्जन का सूत्र भी उसके साथ जोड़ा। **धनमेव अशेष धर्म-हेतुः**—धन ही समस्त धार्मिक कार्यों का निमित्त है, महावीर ने इसे चुनौती दी। उन्होंने कहा—**वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते**—'प्रमत्त मनुष्य धन से त्राण नहीं पा सकता'। सत्ता की तरह सम्पत्ति के एकछत्र सिंहासन को भी उन्होंने हिलाया। धार्मिक क्षेत्र में सम्पत्ति के बल पर जिन्होंने आजन्म अधिकार जमा रखा था, महावीर ने उसका प्रतिरोध किया। परिणाम-स्वरूप उपासक बनने वालों ने अपनी सम्पत्ति का स्वतः परिमाण किया और अतिरिक्त सम्पत्ति का विसर्जन भी किया। राजा प्रदेशी द्वारा अपनी समस्त राज्य-संपदा का चार भागों में विभाजन इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

श्रेणिक महावीर का अन्तेवासी शिष्य तथा मगध का सार्वभौम शासक था। पूनी कातकर आजीविका चलाने वाला श्रावक पूणिया राजधानी राजगृह में ही प्रवास करता था। वह सम्पत्ति से सर्वथा निर्लेप रहता था। राजा श्रेणिक उससे एक सामायक खरीदने के लिए उसके आवास पर पहुंचा। उसने राज्य की सारी सम्पत्ति सौंपकर भी सामायक खरीदना चाहा। पर एक सामायक के मूल्य के अनुपात में राज्य की सारी सम्पत्ति कम थी। श्रेणिक सामायक नहीं खरीद सका। वह खाली हाथ ही महावीर के पास लौटा। श्रेणिक की इस आर्थिक असमर्थता पर किसे विस्मय नहीं होता होगा! महावीर ने कहा—"शुद्ध परिणामों से एक मुहूर्त (४८ मिनट) तक किए जाने वाले धर्माचरण के समक्ष बड़ी-से-बड़ी राज्य-सम्पदा भी नगण्य होती है। उसकी समानता नहीं कर सकती।"

महावीर का अपरिग्रह का सन्देश इच्छा परिमाण के माध्यम से समाज में विकसित हुआ और उससे सम्पत्ति के ऐच्छिक विसर्जन के प्रकार भी आविभूर्त हुए। यही कारण था, उस युग में गरीबों, पददलितों तथा पिछड़ी जातियों को भी समानता के धरातल पर स्वाभिमान की सांस लेने का अवसर प्राप्त हुआ था।

बुढ़ापे में दायित्व-मुक्ति

महावीर ने तत्कालीन समाज के समक्ष बुढ़ापे में स्वेच्छया दायित्व-मुक्ति का भी एक नया सूत्र दिया। एक अवस्था विशेष के बाद, जबकि पुत्र दायित्व-निर्वहन में सक्षम हो जाते थे, घर का मुखिया ज्येष्ठ पुत्र को परिवार की उपस्थिति में दायित्व सौंपकर धार्मिक जीवन जीने के लिए तत्पर हो जाता था। युवा पीढ़ी इससे परिवार, समाज व देश के कामों में क्रियाशील होती थी। समाज को नया रक्त, नया उत्साह तथा नया चिंतन मिलता था। पिता-पुत्र के बीच अवस्था के दुराव के कारण होने वाले चिन्तन व कार्य में भी भिन्नता का अवकाश कम होता था और परिवार में प्रेम तथा अपनत्व का अजस्र स्रोत चलता रहता था। राज्यों व परिवारों की छोटी-छोटी इकाइयां इसीलिए अधिक प्रगतिशील होती थीं। कितना सुन्दर हो, वर्तमान के राजनयिक भी इस व्यवस्था का अनुसरण करने की पहल करें। महावीर के दस उपासकों का जीवन इस तथ्य की विशेष पुष्टि करता है।

अनेकान्त

साम्प्रदायिक सद्भाव

महावीर ने आचार के क्षेत्र में अहिंसा व अपरिग्रह के माध्यम से क्रान्ति की और विचार के क्षेत्र में अनेकान्त के माध्यम से। वे आग्रह को साधना के क्षेत्र में घातक मानते थे। जब कोई व्यक्ति अपने कथन के अतिरिक्त सत्य से नकारता होता है, तब वह स्वयं असत्य में आरोपित हो जाता है। जिसने सत्य का साक्षात्कार कर लिया है, वह सत्य को न अपने तक ही सीमित

करता है और न यह हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता आदि शब्दों माध्यम से संशय को ही अवकाश देता है, अपितु उसे और भी विराट बना देता है। सत्य को सीमित करने का तात्पर्य होता है—साम्प्रदायिकता को बढ़ावा और अहं को सीधा न्योता। महावीर को यह मान्य नहीं था। उन्होंने कहा—"सत् क्रिया चाहे कोई भी करे, वह अच्छी ही है। उसके लिए उसका जैन होना भी अनिवार्य नहीं है।" बहुधा देखा जाता है, मिथ्यात्वी व सम्यक्त्वी का प्रसंग उपस्थित कर सत्क्रिया की श्रेष्ठता से भी इनकार कर दिया जाता है, किन्तु महावीर को यह मान्य नहीं था। वे प्राणि-मात्र की सत्क्रिया को आत्मा की उज्ज्वलता का निमित्त मानते थे।

बहुधा देखा जाता है, परम्परागत धार्मिकों का चिन्तन रूढ़ होता है। अपने सम्प्रदाय के अतिरिक्त अन्यत्र उन्हें सत्य दिखाई नहीं देता, इसीलिए वे साधना को भी अपने आग्रह में अटाने का अनधिकृत प्रयत्न करते हैं। महावीर ने कहा—"साधना में सफल होने के लिए अमुक प्रकार के वेश तथा अमुक गुरु-परम्परा की अनिवार्यता नहीं है। अन्य वेश तथा चाहे जिस सम्प्रदाय में दीक्षित को भी आत्म-साक्षात्कार हो सकता है। इसके लिए उसके मानस की पवित्रता ही केवल अपेक्षित है। परम्परा से तत्त्व सुनते आ रहे व्यक्ति ही मोक्ष के अधिकारी नहीं हैं। किसी घटना विशेष से प्रतिबुद्ध होकर भी साधक साधना के अन्तिम छोर को पा सकता है।" तत्कालीन सम्प्रदायों को इस उद्घोष के समक्ष नतमस्तक होना पड़ा। वर्तमान के साम्प्रदायिक व्यक्तियों के लिए भी महावीर की यह प्रेरणा विशेष विमर्षणीय है। उन्हें अपने को साधना की सरल भूमिका पर प्रतिष्ठापित करना होगा।

इस प्रकार सहज देखा जा सकता है कि महावीर ने अपनी साधना के जो परिणाम समाज के समक्ष रखे, उसमें साम्प्रदायिक सद्भाव, वैचारिक सहिष्णुता तथा सह-अवस्थान की भावना मुख्य थी।

महावीर मानव थे। उन्होंने मानवीय समस्याओं को निकटता से देखा तथा उनका मानवीय धरातल पर ही समाधान प्रस्तुत किया। इसीलिए वे मानव से महामानव बने। उन्होंने श्रद्धा की अनिवार्यता बतलाई, पर उसमें अलौकिकता नहीं आने दी। यही कारण है इतने लम्बे

समय के बाद भी वे करोड़ों के पूजनीय हैं और भविष्य में भी रहेंगे। उपराष्ट्रपति डा० गोपालस्वरूप पाठक की उपस्थिति में तथा दिल्ली के गणमान्य नागरिकों की सभा में महावीर के चरणों में अपनी समस्त श्रद्धा समर्पित करते हुए मुझे अनिर्वचनीय गौरव की अनुभूति होती है।[1]

---

१. नई दिल्ली में ११ अप्रैल, १९७१ को महावीर जयन्ती समारोह में प्रदत्त भाषण। समारोह का उद्‌घाटन उपराष्ट्रपति डा० गोपालस्वरूप पाठक ने किया।

जनतन्त्र के दो प्रबल शत्रु

भारत सबसे बड़ा जनतन्त्र देश है। यहां के प्रयोगों की सफलता-असफलता पर जनतन्त्र का भविष्य निर्भर करता है; इसीलिए कहना चाहिए, संसार के प्रगतिशील देशों की दृष्टि भारत पर केन्द्रित हो रही है। भारत भी अपने इस गुरुतर दायित्व को समझता है तथा जनतन्त्र के स्वर्णिम भविष्य के लिए नाना तरीके काम में ला रहा है। राजशाही से एकदम करवट लेकर जनतन्त्र में ढल जाना सुगम तो नहीं था, पर यही मार्ग श्रेष्ठ था; अतः इसी ओर आगे बढ़ने का पुनीत संकल्प किया गया।

सैकड़ों वर्षों की पराधीनता, नाना भाषाएं तथा जातियां, अनेकानेक धार्मिक विश्वास व भिन्न-भिन्न रहन-सहन के प्रकार आदि विभिन्न पहलू जनतन्त्र की प्रगति में बाधक हो सकते थे। समय-समय पर इनके द्वारा अवरोध उत्पन्न हुए भी हैं, किन्तु शनैः-शनैः प्रतिक्रियावादी तत्त्वों का निरसन भी हो रहा है और प्रगति को अपनी भुजाओं में थामे हुए जनतन्त्र आगे बढ़ रहा है। अनेक विकट घाटियां पार करते हुए अवरोधक तत्त्वों को उपशान्त किया गया है, पर दो प्रबल शत्रु अब तक भी सामने हैं। वे हैं—साम्प्रदायिकता तथा हिंसक उन्माद।

साम्प्रदायिकता

देश के किसी भी हिस्से में जब साम्प्रदायिकता सिर उठाती है, तब सर्वत्र क्षोभ का वातावरण फैल जाता है। प्रत्येक व्यक्ति उसे बुरा मानता है। किन्तु चुनावों के अवसर पर जीतने के लिए उन्हीं व्यक्तियों द्वारा अल्प-

संख्यकों के हित-संरक्षण का नारा लगाया जाना कैसे उपयुक्त हो सकता है? वहुधा देखा जाता है, चुनावों में किस निर्वाचन-क्षेत्र में किस जाति तथा किस सम्प्रदाय के व्यक्तियों की कितनी संख्या है, इसके आंकड़े लिए जाते हैं तथा उसी आधार पर उम्मीदवार का चयन तथा प्रचार किया जाता है। जातीयता तया साम्प्रदायिकता का ज़हर उस समय उग्र रूप से फैल जाता है। जनतन्त्र के द्वारा साम्प्रदायिकता की जिस वुराई का निराकरण होता है, उसी वुराई के द्वारा जनतन्त्र को आगे वढ़ाने का प्रयत्न करना, वस्तुत: भयंकर भूल हो जाती है। चुनाव में दल की नीतियां तथा उम्मीदवार का चरित्र मुख्य होना चाहिए, पर यह वहुधा यहां गौण हो रहा है।

अल्पसंख्यकों तथा वहुसंख्यकों का जव वहुधा प्रश्न उभारा जाता है, तो विचित्र-सा लगता है। जनतन्त्र में जव कि सवका समान हित-संरक्षण है, किसी वर्ग-विशेष के मन में भय नहीं होना चाहिए, पर जव तक उसकी पूर्णता नहीं हो पाती है, ऐसा सहज भी है। किन्तु उस अपूर्णता को वनाए रखने के लिए ही कृतसंकल्प रहना, जनतन्त्र को प्रशस्त न वनने देने का प्रकार है। वहुसंख्यक अल्पसंख्यकों पर हावी रहें, उन्हें विकास का अवसर ही न दें, यह जनतन्त्र के साथ मखौल है। साम्प्रदायिकता की अभिवृद्धि में यह भी एक निमित्त वनता है।

वैयक्तिक हितों की अवहेलना

राजसत्ता से हटकर ज्यों ही जनतन्त्र का प्रयोग आरम्भ हुआ, महत्त्वाकांक्षा को पनपाने का भी खुलकर अवसर मिला। अनेकानेक व्यक्ति एक साथ ही पदों की ओर लपके। योग्यता पीछे रह गई और येन-केन-प्रकारेण का उपाय काम में लिया जाने लगा। यही कारण है, उद्देश्यों में अधिक अन्तर न होते हुए भी यहां अनेक दल वनते जा रहे हैं। अधिक दलों का होना जनतन्त्र के लिए खतरा है। क्योंकि वहां शक्तियों का ध्रुवीकरण न होकर विखराव होता है और सत्तारूढ़ पक्ष उसका अनुचित लाभ उठाकर स्वयं को अधिनायकवादी प्रवृत्तियों की ओर वढ़ा लेता है। सिद्धान्त वहां गौण होते हैं और वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षा की प्रधानता होती

है। महत्त्वाकांक्षा व्यक्ति को आगे बढ़ाने में निमित्त बनती है, पर जब वह सिद्धान्तों पर हावी हो जाती है, उसकी शालीनता समाप्त हो जाती है और वहीं से सामाजिक दूषण भी पनपने लगते हैं। साम्प्रदायिकता तथा जातीयता को इसी में से प्रोत्साहन मिलता है। राष्ट्र-हित के समक्ष वैयक्तिक हितों की अवहेलना को जब प्रधानता दी जाएगी, जनतन्त्र विशेष प्रशस्त हो सकेगा।

एक युग था, जबकि धर्म पर सर्वसामान्य की श्रद्धा केन्द्रित थी। युग बदला, परिस्थितियां बदलीं, चिन्तन के प्रकार बदले, किन्तु धार्मिक स्थिति-पोषक ही बने रहे। वे नहीं बदले। जब उनका प्रभाव क्षीण होने लगा, अपने को बचाने के लिए उन्होंने धर्म को साम्प्रदायिकता का चोगा पहनाया। राज-सत्ता में भी उन्होंने प्रवेश किया। जनतन्त्र में जबकि हाथों का मूल्य है, मस्तिष्क का नहीं, तो उन्होंने साधारण जनता को गुमराह कर मतों को पाने के लिए धर्म के विरोध का भी नारा लगाया। सभ्यता और संस्कृति को भी उसके साथ जोड़ा गया। कुल मिलाकर कहा जा सकता है, जनतन्त्र को उच्च न बनाकर, उसके द्वारा स्वयं को उच्च बनाने का अभियान आरम्भ हो गया। स्थिति-पोषक धार्मिक भी उसमें अगुआ रहे और साम्प्रदायिकता ने जनतन्त्र पर पंजा मारना आरम्भ कर दिया।

हिंसक उन्माद

जनतन्त्र को एक ओर साम्प्रदायिकता दबोच रही है और दूसरी ओर देश के अनेक भागों में हिंसक उन्माद सिर उठा रहे हैं। हिंसा के मुख्य कारण असमानता, सामाजिक अन्याय तथा भेद-भाव आदि को बताया जा रहा है और उनके विरुद्ध उग्र विष फैलाया जा रहा है। संघर्ष, विग्रह तथा विप्लव का बिगुल बजाने के लिए हज़ारों-लाखों व्यक्ति निकल पड़े हैं। किन्तु हिंसा को उभारकर जिन अराजक तत्त्वों को फैलाया जा रहा है, उसके पीछे भी तो अधिनायकवादी प्रवृत्ति है। समानता का नारा सुनने में बड़ा प्रिय लग रहा है, किन्तु वहां से यदि सर्वसाधारण के अधिकारों को ही चुनौती दी जाए, तो ऐसा लगता है, चीनी के कैप्सूल में ज़हर भरा है। रक्त से सने वस्त्र को साफ करने के लिए रक्त का प्रयोग

क़तई समझदारी नहीं हो सकती। हिंसा को भड़काकर समानता को प्रतिष्ठित करने का दावा मात्र भ्रम ही है। वह तो लोक-कल्याणकारी प्रवृत्तियों को समाप्त करने का एक रास्ता निकाला जाता है।

युवा असन्तोष

युवा-असन्तोष भी हिंसक घटनाओं को उभारने में निमित्त बन रहा है। परिवर्तनों की गति काफी तेज है और युवावर्ग उसका सूत्रधार है। पर समाज उसे सहने के लिए तैयार नहीं है। इसीलिए हिंसा को स्वयं ही न्योता दिया जा रहा है। बुजुर्गों के प्रति उनकी सन्तान की खीज क्यों है, इसका लेखा-जोखा जितना युवकों के लिए आवश्यक है, उससे भी अधिक उनके अभिभावकों के लिए भी है। यदि समय रहते इसे नहीं सोचा गया तो युवा पीढ़ी वर्तमान पीढ़ी के प्रति क्या नहीं कर देगी, कहा नहीं जा सकता। यद्यपि युवा वर्ग में भी असन्तोष को पनपाने का श्रेय कुछेक तथाकथित राजनयिकों को है, किन्तु उनके भरोसे पर उन्हें छोड़ा तो नहीं जा सकता। असन्तोष के कारणों की खोज और उसके बाद उनका निवारण समस्त रचनात्मक कार्यों में प्रमुख हो जाता है।

साम्प्रदायिकता और हिंसा का मूल आधार अधिनायकवादी प्रवृत्तियां है। एक में वह स्पष्ट है तथा दूसरी में छिपी हुई। दोनों का ही परिणाम भयंकर है। जनतन्त्र के ये ही दो प्रबल शत्रु हैं, जिन्हें आज प्रगतिशील तत्त्वों को निरस्त करना है। गणतन्त्र दिवस के अवसर पर भावी की स्वर्णिम कल्पना को आकार देने के लिए इन महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर पर्यालोचन अपेक्षित है। विशेषतः इसलिए भी कि लोक-सभा के चुनाव सम्मुख हैं। यदि इस चुनाव में साम्प्रदायिक और हिंसक तत्त्वों को चुनौती दी गई, तो देश में नया कीर्तिमान स्थापित होने की सम्भावना की जा सकती है।[1]

---

१. २६ जनवरी, १९७१—'हिन्दुस्तान' में तथा २ फरवरी, १९७१ को नवभारत टाइम्स, दिल्ली तथा बम्बई में प्रकाशित।

परिवार बनाम नैतिकता

एक निष्ठाशील अध्यापक ने एक बार पूछा—"परीक्षा के समय कमजोर छात्र को उत्तीर्ण करने के लिए बहुधा ऊपर से दबाव आता है। सरपंच से लेकर विधायक तक दबाव में सम्मिलित हो जाते हैं। यदि उस छात्र को उत्तीर्ण नहीं किया जाता है, तो नाना धमकियां भी दी जाती हैं। नौकरी से हटा देने तक की चुनौती भी मिल जाती है। ऐसी स्थिति में यदि नैतिकता को प्रधानता दी जाती है, तो परिवार के भरण-पोषण का प्रश्न टेढ़ा हो जाता है और परिवार को मुख्य मानने पर नैतिकता का गौण होना सहज है, जिसे मन नहीं चाहता। ऐसा कौन-सा मार्ग हो सकता है, जिसके अवलम्बन से नैतिकता पर आस्थाशील रहते हुए पारिवारिक कठिनाइयों से भी बचा जा सकता है ?"

नैतिकता और परिवार का यह प्रश्न बड़ा जटिल है। अनैतिकता का दुश्चक्र इतनी तीव्र गति से घूम रहा है कि उसने करोड़ों मनुष्यों की आस्था को डिगा दिया है। इस युग में व्यक्ति स्वयं अनैतिकता करता है; इतना ही नहीं, वह दूसरों को भी इसके लिए प्रोत्साहित और बाध्य करता है। जो व्यक्ति सहजतया अनैतिकता के लिए स्वीकृति प्रदान कर देता है, उसके लिए प्रतिष्ठा, वैभव आदि का द्वार खुला होता है। जो ऐसा नहीं कर सकता, उसके लिए अनचाही विपदाओं को आमन्त्रण है।

अनैतिकता जीवन की सफलताओं का सम्मत-माध्यम बन रही है। इस विश्वास को खण्डित करने की आवश्यकता है। यह कार्य सुगमता से हो सके, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती। इस भगीरथ प्रयत्न में सम्भव है,

कुछ व्यक्तियों व परिवारों का वलिदान भी हो जाए, पर वलिदान खाली नहीं जायेगा। वर्तमान में यदि अधिकांश व्यक्ति अनैतिकता को प्रश्रय देने वाले हैं, तो उनकी संख्या को घटाने के लिए थोड़े व्यक्तियों को भी सीना तानकर डटना होगा। अनैतिकता में इतना साहस नहीं है कि वह अपने मूल रूप में समाज में पनप सके। वह तो नैतिकता का मुखौटा पहनकर आगे वढ़ रही है। ऐसी स्थिति में मुखौटा उतारकर उसे असली रूप में वहुत शीघ्र ही लाया जा सकता है।

नैतिक वनने से पारिवारिक स्थितियां विकट होती हैं, यह सही है; पर यह केवल अध्यापकों के लिए ही नहीं है। एक पुलिस का जवान भी रिश्वत लेता हुआ परिवार के भरण-पोषण की दुहाई देता है। एक लिपिक भी इसे ही अपनी विवशता वतलाता है। जिलाधीश और सचिव भी इन विवशताओं से मुक्त नहीं हैं। परिवार के भरण-पोषण का प्रश्न अवश्य ही वहुत विकट है, पर नैतिकता से अधिक उसकी अहमियत नहीं है।

सिफारिशों का दौर जनतन्त्र में अधिक वढ़ा है। पंच और सरपंच से लेकर विधायक और मंत्री तक सिफारिशें करते हैं तथा सुनकर उन्हें क्रियान्वित भी करते हैं। सिफारिशों में दवाव का होना भी स्वाभाविक है। प्राथमिक विद्यालय के सामान्य अध्यापक व पुलिस जवान से लेकर सचिव स्तर तक के सव कामों में राजनयिकों का खुला हस्तक्षेप चलता है। किसी भी व्यक्ति को न तो मुक्त चिन्तन करने दिया जाता है और न मुक्त कार्य का अवकाश भी। जनतन्त्र में सवके उदय के नाम पर सरकार के अधीनस्थ सभी व्यक्तियों की अच्छी तरह से कीलने का उपक्रम किया जाता है। यह स्वस्थ परम्परा नहीं है। यहीं से अनैतिकता का प्रादुर्भाव होता है।

राजनैतिक दवावों के वढ़ते हुए दौर में नैतिक वने रहना अवश्य ही प्रतिस्रोत में चलने जैसा उपक्रम है, पर किसी-न-किसी व्यक्ति को तो ऐसा करने के लिए अपना शौर्य दिखलाना ही होगा। कम आय वाले सरकारी सेवा में संलग्न व्यक्तियों के लिए नैतिकता का प्रश्न वहुत टेढ़ा है, पर यह हल भी उनके द्वारा ही हो सकता है। उनकी क्षमता जिस समय अहिंसक क्रांति को अपना आधार वनाएगी, अनैतिकता का विना नींव का महल ध्वस्त होते समय नहीं लगेगा।

साम्प्रदायिकता, हिंसा और धर्म

अनास्था का उद्भव

भारत के नागरिक प्रगति का सुनियोजित लक्ष्य लेकर अपने भविष्य का निर्माण कर रहे हैं, इसलिए अवरोध में उपस्थित होने वाले भाषा-विवाद, जातीय संकीर्णताएं, साम्प्रदायिक उन्माद, भाई-भतीजावाद तथा हिंसक उपद्रवों के मूल कारणों का पर्यालोचन आवश्यक होगा तथा उसके बाद उनके निवारण के लिए रचनात्मक प्रयत्न अपेक्षित होंगे। बहुधा देखा जाता है, भारतीय अतीत के प्रति गौरव का अनुभव करते हैं, वर्तमान को हीन समझते हैं तथा भविष्य को अत्यधिक निराशा की दृष्टि से देखते हैं। यह यथार्थ नहीं है। इससे जीवन के प्रति अनास्था का उद्भव होता है और वर्तमान के सारे मूल्य विघटित हो जाते हैं। अनास्था अकर्मण्यता को जन्म देती है तथा उससे स्वार्थ-भावना, अहं, महत्त्वाकांक्षा आदि का उदय होता है, जिनसे सर्वजनहिताय का उद्देश्य धूमिल हो जाता है। भारतीय चिन्तकों ने **'वसुधैव कुटुम्बकम्'**, **'आयतुले पयासु'** आदि के उदार सिद्धान्तों को जीवन-व्यवहार में प्रयुक्त करने पर बल दिया। वहां किसी भी प्रकार की संकीर्णता को स्थान नहीं था तथा सह-अस्तित्व, सद्भाव, सौजन्य, सौहार्द, परस्परोपग्रह आदि की प्रमुखता थी, अतः मैत्री और भाईचारा था एवं हिंसक प्रवृत्तियों के उद्भव का अवकाश भी नहीं था।

उस समय धर्म का अध्यात्म के रूप में सार्वभौम विकास था। साम्प्रदायिकता नहीं थी। 'यूयम्' और 'वयम्'—तेरे और मेरे की अनुभूति न होकर 'वयम्, वयम्'—हम सभी एक हैं, यह क्रियान्विति थी। साथ ही

धर्म राज्याश्रयी नहीं था, अपितु राज्य धर्माश्रयी था। धर्म पर राज्य का अंकुश नहीं था। राज्य पर धर्म का अंकुश था। इससे धर्म और राज्य, दोनों की प्राणवत्ता थी और सभी को समान विकास का अवसर था। किन्तु जब से धर्म के क्षेत्र में भी महत्त्वाकांक्षाओं का उदय हुआ, धर्म को अध्यात्म से दूर कर साम्प्रदायिकता के साथ सम्बद्ध कर दिया। ये ही दो कारण थे, जिनसे धर्म का दुरुपयोग हुआ और जिस धर्म से सर्वजनहिताय का उद्घोष मुखर हुआ था, वही धर्म अफीम के नाम से पुकारा जाने लगा।

धर्म की सुरक्षा

कुछ शताब्दियों से कुछ आचार्यों का चिन्तन बहुत रूढ़ होता गया, इसलिए युग के साथ उभरने वाले प्रश्नों का समाधान देने में वे असफल रहे। विज्ञान बढ़ता गया और उसके साथ भी अनेक प्रश्न उठे। उचित समाधान न दे पाने के कारण धर्म के प्रति उपेक्षा का भाव भी बढ़ा। कुल मिलाकर धर्माचार्यों के लिए यह समय आत्म-निरीक्षण, युग-पर्यालोचन तथा उसके बाद आवश्यक नई करवट लेने का है। आज सम्प्रदायों की सुरक्षा की आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है धर्म की सुरक्षा का। सम्प्रदायों की सुरक्षा पारस्परिक कलह, संघर्ष तथा विग्रह को उत्पन्न करती है तथा धर्म की सुरक्षा से मानवीय कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है। आशा है, देश के धर्माचार्य इस बारे में जनता को सही मार्गदर्शन करेंगे।

हिंसाएं क्यों ?

वर्तमान में होने वाली हिंसक घटनाओं ने देश के मानस को उद्वेलित कर रखा है। हरेक का मानस इस आशंका से भीत है कि समय रहते हुए इन हिंसाओं को नहीं रोका गया, तो न मालूम कल क्या होगा ? हिंसाओं को रोकने के लिए सभी व्यग्र हैं, पर, हिंसाएं क्यों हो रही हैं, इस प्रश्न की गहराई में बहुत कम व्यक्ति जा पाते हैं। जब तक इस गहराई में नहीं पहुंचा जायेगा, ऊपरी उपचार से ये हिंसाएं रुक नहीं पाएंगी। एक दशाब्दी से देश में विचारों की नई लहर आयी है। आदिवासी, पिछड़ी जन-जातियों, किसानों आदि ने भी अपने आपको पहचाना है तथा वे मनमाना शोषण

करने वालों के विरुद्ध तनकर खड़े हो गए हैं। अमीरी व गरीबी के भेद ने उनको आन्दोलित कर उनके स्वर को विद्रोही भी बना दिया है। एक व्यक्ति के पास सम्पत्ति का अनहद ढेर रहे तथा लाखों व्यक्ति नंगे बदन कड़कड़ाती सर्दी में भी ठिठुरते रहें तथा भूखे पेट ही सोएं, यह जितना उन व्यक्तियों के मानस को कचोटता है, उससे भी अधिक उन व्यक्तियों को भी अनुभव होना चाहिए था, जिनके पास अनावश्यक साधनों की प्रचुरता है। किन्तु पता नहीं यह समझ उनको क्यों नहीं आ रही है ?

विसर्जन

प्रायः देखा जाता है, सम्पन्न पक्ष की घोर उपेक्षा विवश परिस्थितियों से प्रताड़ित तथा अभाव-ग्रस्त व्यक्ति के मन में विद्रोह को सुलगाती है। हिंसाओं को न्योता भी वे ही सम्पन्न व्यक्ति देते हैं, जो **सर्वं मदीयम्, न किंचिदपि त्वदीयम्**—'सब कुछ मेरा ही है, तेरा कुछ भी नहीं है' को अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानकर चलते हैं। उनके निर्मम व्यवहार के कारण लाखों भूखे व्यक्ति हिंसा को चरम शिखर पर पहुंचाकर उनके साथ ही उस हिंसा का व्यवहार करते हैं। सम्पत्ति पर केवल अपना ही स्वामित्व न मानकर उसकी संरक्षकता ही यदि मानी जाए और उसे क्रियान्वित किया जाए, तो इस समस्या का एक सहज समाधान हो सकता है। समाज में अर्जन की भावना न होकर विसर्जन की भावना बल पकड़े तथा **'न ममेदं, सर्वेषामिदम्'**—'मेरा कुछ भी नहीं, सभी का है, समाज का है', यह यदि क्रियान्वित हो जाए तो वर्तमान में भड़कने वाली हिंसाओं के प्रतिकार का अहिंसात्मक गुर हाथ लग जाएगा।

समर्पण

भारतीय धर्मों में समर्पण की सदैव प्रधानता रही है, इसलिए कहा जाता रहा है—**'त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये'**। किन्तु यह समर्पण केवल मन्दिरों व धर्म-स्थानों तक ही सीमित रहा, जीवन-व्यवहार में नहीं उतर पाया। जो समर्पण भगवान् या आराध्य के प्रति होता है, वह तो केवल भावनात्मक प्रतीक होता है। वास्तविक समर्पण तो वह मानव मात्र

के प्रति ही होता है। जहां समर्पण होता है, वहां सहज विसर्जन होता है और व्यक्ति दूसरों के भले में ही अपना भला समझता है। हिंसक उन्मादों के निवारण का यह भी एक ठोस उपाय है।

सभी धर्मों के आचार्य साम्प्रदायिकता के विरुद्ध वातावरण बनाने में एकजुट हो जाएं तथा सभी सम्पन्न तथा पूंजीपति विसर्जन को अपना लक्ष्य बनाकर हिंसा के कारणों के उन्मूलन में हाथ बढ़ाएं। मैं समझता हूं, इस इस प्रकार दोनों वर्गों ने यदि युग के अनुकूल करवट ली, तो देश में स्वस्थ वातावरण बनेगा एवं प्रगतिशील तत्त्व तथा प्रबुद्ध वर्ग उन्हें श्रद्धा और सम्मान कीदृष्टि से देखेगा।[1]

---

१. १० जनवरी, १६७१ को विज्ञान भवन में आयोजित अणुव्रत विचार परिषद् में दिया गया भाषण। विचार परिषद् का उद्घाटन प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने किया।

अनैतिकता किसके साथ ?

अनैतिकता के निराकरण के लिए कई दिशाओं से कदम बढ़ रहे हैं, पर लगता ऐसा है, कदम कोरे ही उठ रहे हैं। उनका जो व्यापक प्रभाव होना चाहिए, वह नहीं हो पा रहा है। एक चिन्तन है, आर्थिक कठिनता के साथ अनैतिकता का गठनबन्धन है, अतः जब तक इस पहलू को स्वस्थ नहीं किया जाता, अनैतिकता कैसे पनप सकती है ? एक चिन्तन यह भी है, अनैतिकता ऊपर का आवरण है। इसे हटाने के लिए व्रत-शक्ति की आवश्यकता है। व्यक्ति व्रत-ग्रहण करता जाएगा, अनैतिकताएं स्वतः पिछड़ती चली जाएंगी। दोनों ही चिन्तन अपने-अपने क्षेत्रों में आकार पाते रहे, पर क्या बन पाया, यह प्रश्नचिह्न आज भी उसी रूप में सबके समक्ष है। आर्थिक कठिनता के निराकरण से ही नैतिकता का विकास होगा, वर्तमान स्थितियों को देखते हुए यह वैसा ही है, जैसे कि नौ मन तेल के इकट्ठे होने पर राधा का नाचना। व्रत-ग्रहण में अधिकांश भावुकता होती है। व्यक्ति प्रवाह में बहुत शीघ्र ही बह जाता है। वह जोश कुछ समय के बाद शिथिल हो जाता है और जब परिस्थितियों के थपेड़े लगते हैं, व्यक्ति बहुधा व्रतों की निष्ठा खो बैठता है। बहुत सारे व्यक्ति व्रत-ग्रहण करते ही नहीं और जो करते हैं, उनके साथ उपरोक्त स्थिति बनती है। यही कारण है कि व्रतों का अभियान भी कुछ दूर आगे बढ़कर पुनः अपने मूल केन्द्र की ओर ही लौट आया है। सारा समाज व्रतों में ढल जाएगा और उसके आधार पर किसी मौलिकता का निर्माण हो सकेगा, कल्पना के कोर के अतिरिक्त उसमें और क्या वास्तविकता हो सकती है ?

वातावरण की सापेक्षता

नैतिकता और अनैतिकता का प्रसार और अवरोध वातावरण-सापेक्ष है। जिन विचारों को समाज सम्मान देता है, वे विचार बड़ी सुगमता से फैल जाते हैं और जिनका तिरस्कार करता है, वे पीछे हट जाते हैं। अनैतिकता भी सम्मान का चोगा पहनकर ही जीती है और फैलती है, इसलिए नैतिकता के प्रसार के लिए यह पहली आवश्यकता है कि जनमत को उसके पक्ष में ही आगे बढ़ाया जाए। नैतिकता का पक्ष उभरेगा, तो अनैतिकता स्वतः दबती चली जाएगी। ज्यों-ज्यों सूर्य आकाश में बढ़ता जाता है, अन्धकार स्वतः विलीन होता चला जाता है। यदि सूर्य न हो और केवल अन्धकार को डण्डे से पीटकर भगाने का प्रयत्न किया जाए, तो उसमें शक्ति का अपव्यय ही होगा। वर्तमान के प्रयत्न इस परिधि से बाहर नहीं जाते हैं। कहीं-कहीं सूर्य के अभाव में दीपक के माध्यम से घर का अंधेरा दूर किया जाता है। उसी प्रकार कुछ प्रयत्न इस कोटि के भी हो सकते हैं। सामूहिक रूप से यदि अनैतिकता का निराकरण किया जाएगा, तो उसके लिए किसी विशेष व्यक्तित्व की आवश्यकता होगी, जो अपनी वाक्-शक्ति से जनता में एक साथ क्रान्ति का सूत्रपात कर सके।

अपनत्व का संश्लेष

प्रश्न होता है, व्यक्ति अनैतिकता का व्यवहार किसके साथ करता है? यदि वह व्यापारी है, तो मिलावटी वस्तुएं बेच सकता है, पर किसको? स्वयं को नहीं, अपने पारिवारिकों को नहीं, अपने इष्ट मित्रों को नहीं। यदि वह अधिकारी है, तो रिश्वत ले सकता है, पर किससे? स्वयं से नहीं, अपनी पत्नी और बच्चों से नहीं, अपने मित्रों से भी नहीं। अनैतिकता और विश्वासघात का व्यवहार सदैव पराए के साथ होता है। जहां अपनत्व का संश्लेष होता है, वहां ऐसा कुछ भी नहीं होता। आजकल यह स्पष्ट अनुभव किया जा रहा है, व्यक्ति बहुत कुछ सिमट गया है। किसी युग में जहां वह परिवार, समाज और देश के लिए कुछ करने में अपने को गौरवान्वित समझता था, आज वह 'मैं, बीबी और मुन्ने' की छोटी-

सी समष्टि को ही सब-कुछ मानने लगा है। इससे आगे वह अपना कोई अनुबन्ध स्वीकार नहीं करता। अनैतिकता की जड़ यहीं बन जाती है।

प्राचीन आदर्श के अनुसार भारतवासी के लिए वसुधा ही कुटुम्ब थी। अपनी आत्मा के तुल्य (**आयतुले पयासु**) ही वह सबको समझने में अग्रणी रहता था। पांडित्य की परिभाषा थी, **आत्मावत् सर्वभूतेषु**। किन्तु आज सब कुछ बदल चुका है और यह बदला हुआ ही अनैतिकताओं को पनपा रहा है। इस दृष्टि-विपर्यास को दूर करने के लिए भगीरथ प्रयत्न अपेक्षित है।

एक भेंट

उपग्रहों के माध्यम से व्यक्ति ग्रह-नक्षत्रों से सम्पर्क स्थापित करने के लिए उतावला हो रहा है, पर इस पृथ्वी पर अपने पड़ोसी के साथ कैसा व्यवहार किया जाए, इसे वह भूलता जा रहा है। पड़ोसी से सम्पर्क बनाए रखना उसे अनावश्यक-सा प्रतीत हो रहा है। किसी से यदि यह बात कही जाती है, उसे विचित्र-सी लगती है। ५ अक्टूबर, सन् १९५७ की बात है। मैं और श्री सोहनलाल बाफणा नई दिल्ली की सड़कों पर कदम बढ़ाए हुए जा रहे थे। पीछे से हमें किसी ने रुकने के लिए बार-बार आवाज़ दी। हमने पीछे देखा, दो व्यक्ति हमारी ओर दौड़े आ रहे थे। एक वृक्ष की छाया में हम दोनों रुके। कुछ ही क्षणों में वे दोनों व्यक्ति हमारे पास पहुंच गए। एक के हाथ में शॉर्टहैण्ड की कॉपी और पेंसिल थी तथा दूसरे के हाथ में कैमरा था। वे 'लाइफ' व 'टाइम' के संवाददाता थे। दो-एक क्षणों में पथ-श्रम से आश्वस्त हो, एक सज्जन ने पूछा—"आपने आज के समाचार-पत्र देखें होंगे ? रूस ने अन्तरिक्ष-यान छोड़ा है। इस बारे में आपकी क्या प्रतिक्रिया है ?"

उसके प्रश्न सरल थे, पर अपने में गम्भीरता संजोए हुए थे।

मैंने कहा—"आज का मनुष्य विज्ञान के सहारे समुद्र की गहराई तक मछलियों की तरह अव्याबाध तैरता है। अनन्त आकाश में पक्षी की तरह स्वतंत्र उड़ता है। पृथ्वी के एक छोर से दूसरे छोर तक कुछ ही घंटों में पहुंच

जाना उसके लिए दाएं हाथ का खेल बन गया है। अब अपने समीपस्थ अन्य ग्रहों में भी संचार के साधन जुटा रहा है। चन्द्रलोक में पहुंचने की तैयारी में है। स्पूतनिक की यह उड़ान उसी शृंखला की पहली कड़ी है, जो प्रकृति पर मानव की बहुत बड़ी विजय की सूचक है। किन्तु चन्द्रलोक के साथ घनिष्ठता स्थापित करने वाले प्रबुद्ध मानव को यह भी सोचना है कि वह पृथ्वी पर बसने वाले अपने पड़ोसी के साथ कैसा व्यवहार करे। वहां यदि बर्बरता, घृणा व वैमनस्य का बर्ताव करता है, तो उसके अन्य विकास उसके लिए भार होंगे। आज का मनुष्य इसीलिए अशान्त है कि वह अपने पड़ोसी के साथ कैसा व्यवहार करे, इस विधि से अनजान हो गया है। चन्द्रलोक तक पहुंचने में यदि वह सफल हो भी जाता है, तो वहां पर भी वह शान्ति का अनुभव नहीं कर पाएगा, अपितु अपनी दूषित वृत्तियों से वहां के प्राणियों को भी अशान्त कर देगा।"

मेरा उत्तर सुन वह मुसकराया। बोला—मैंने राजनैतिक, विचारक व विद्वान् व्यक्तियों के इस बारे में विचार संगृहीत किए हैं। धर्म-गुरुओं के विचार भी मुझे चाहिए थे, इसलिए आपको यह कष्ट दिया है। आपके ये विचार मुझे बहुत महत्त्वपूर्ण लगे हैं। मैं उन्हें अमेरिका से प्रकाशित होने वाले 'लाइफ़' व 'टाइम' पत्रों में भेजूंगा।"

पड़ोसी को पहचानना भ्रातृत्व का पहला सूत्र है और यही नैतिकता के उन्नयन और अनैतिकता के अपनयन में योगभूत बन सकता है। व्यक्ति-व्यक्ति में जितनी निकटता बढ़ेगी, उतने ही साम्प्रदायिक आग्रह, जातीय झगड़े और स्वार्थ के दौर कम होंगे। वहां व्यक्ति को एक-दूसरे को पहचानने का अवसर मिलेगा। पहचान ज्यों-त्यों विश्वासघात नहीं होने देती। व्यक्ति को व्यक्ति के निकट पहुंचाने के लिए विशेष अभियान की अपेक्षा है।

१. 'राष्ट्रदूत', जयपुर से प्रकाशित।

राजनीति का दूषित नक़ाब हटाया जाए

घिनौना गठबन्धन

जनतंत्र का जब से उदय हुआ है, लाखों व्यक्तियों के मुंह से मंत्रि-पद की लार टपकने लगी है। भूखे भेड़िए की तरह छीना-झपटी में सभी एक-दूसरे से आगे बढ़ने के प्रयत्न में हैं। विकास करने का और अपनी योग्यताओं को क्रियान्वित करने का अधिकार सबको समान है। प्राचीन युग की भांति सत्ता और पद किसी की पैतृक धरोहर नहीं हैं। फिर भी सीमा का अतिक्रमण किसी भी स्थिति में उचित नहीं होता। इस युग में व्यक्ति अपने विकास के लिए अपनी योग्यताओं के विस्तार से भी अधिक प्रधानता दूसरों की योग्यताओं को हतप्रभ कैसे किया जा सकता है, इसे दे रहा है। दूसरों को प्रभाव-शून्य कर स्वयं प्रभावशाली बनने के प्रयत्न में है। यहीं से अनैतिकता का स्वार्थ के साथ घिनौना गठबन्धन आरम्भ हो जाता है, जो व्यक्ति को उच्च पद पर अधिष्ठित करने के लिए निन्दनीय हथकण्डों के लिए विवश कर देता है।

दूषित नक़ाब

राजनीति का नशा प्रत्येक व्यक्ति पर छा रहा है। पद पाने के लिए जातीयता को उभारा जा रहा है, साम्प्रदायिकता को भड़काया जा रहा है, प्रान्तीयता को बढ़ावा दिया जा रहा है और भाषा का विवाद खड़ा किया जा रहा है। श्रमिक और छात्र-वर्ग को उकसाकर उनकी शक्ति के माध्यम से अपनी शक्ति बढ़ाई जा रही है। समाज का यह बीभत्स रूप

किसे व्यथित नहीं करेगा ? पर राजनीति का हौआ इस तरह से छा रहा है कि सबको असम्यक् ही सम्यक् दिखाई देने लगा है। राजनीति की इस दूपित नक़ाब़ को उतारकर दूर करना होगा।

राजनैतिक दूसरों की शक्ति पर खेल रचाते हैं। उन्होंने छात्र-समुदाय को भ्रान्त कर उनकी शक्ति का दुरुपयोग आरम्भ कर दिया है। जिस छात्र-वर्ग का केवल अपने निर्माण तथा अध्ययन के अतिरिक्त किसी भी प्रसंग से लगाव नहीं है, उसे आन्दोलन की आग में झोंका जा रहा है। भावुक तथा जोश में अग्रणी वह वर्ग आंख मूंदकर उसमें गिर पड़ता है और अपने भावी जीवन के साथ खिलवाड़ कर बैठता है। समय रहते हुए छात्र-समुदाय को राजनैतिकों द्वारा संचालित विध्वंसात्मक प्रवृत्तियों से जागरूकता के साथ बचाना होगा, तभी स्वस्थ समाज का निर्माण सम्भव हो सकेगा।

नेतृत्व का स्थानान्तरण

एक युग था, जबकि समाज का नेतृत्व धर्मगुरुओं, साहित्यकारों तथा चिन्तकों के हाथ में था। धर्म-गुरुओं तथा विद्वानों के परामर्श से राज्य का संचालन होता था। उस समय समाज में सात्त्विक वृत्तियों का विकास था। किन्हीं कारणों से वह नेतृत्व स्थानान्तरित होकर राजनैतिकों के हाथों में चला गया, अतः वर्तमान में सात्विकता तिरोहित हो रही है और उसके स्थान पर तामसिकता उभरकर सामने आने लगी है। आवश्यकता है, संगठित रूप से प्रयत्न हो और वह बागडोर पुनः राजनैतिकों के हाथों से लेकर धर्म-गुरुओं, साहित्यकारों तथा चिन्तकों को सौंपी जाए। ऐसा होते ही समाज का नक्शा बदल जाएगा।

प्रतिष्ठा राजनीति की नहीं, मानवीय मूल्यों की होनी चाहिए। राजनीति के द्वारा मानवता का संचालन न हो, अपितु राजनीति मानवता के नियंत्रण में रहे।

समस्याकुल वर्तमान और युवक

युवा-वर्ग समस्याओं के अम्बार पर खड़ा है। विज्ञान के बदलते हुए युग में उसका चिन्तन-पक्ष भविष्य की गहराईयों में गोते लगा रहा है, तो विरासत में मिले प्राचीनता के संस्कार भी उसे जकड़े हुए हैं। कभी वह भविष्य को देखता हुआ आगे बढ़ने का उपक्रम करता है, तो कभी अतीत उसके पैरों में बेड़ी के रूप में लग जाता है और वह वहीं खड़ा रह जाता है। पारिवारिक पद्धति, रहन-सहन का प्रकार, वेशभूषा, सामाजिक आचार, शिक्षा, साहित्य, राजनीति, अर्थ-नीति, व्यवसाय, उद्योग, कृषि आदि सभी जीवन के आवश्यक अंग उसके समक्ष समस्या के रूप में उपस्थित हैं और उसे नये चिन्तन की ओर प्रेरित कर रहे हैं। संक्षेप में कहना चाहिए, जो ढर्रा चला आ रहा है; वह स्वयं समस्या बन गया है।

ध्वंस की ध्वनि

युग-सत्य और शाश्वत सत्य के रूप में सत्य द्विधा विभक्त हो जाता है। युग-सत्य में नये चिन्तन और नये प्रकार का बल अपेक्षित होता है। जब ऐसा नहीं किया जाता है, शाश्वत सत्य पर आंच आ जाती है और युग-सत्य भी अपना अस्तित्व नहीं टिका पाता। सबसे मुख्य समस्या यही होती है। **'पदे-पदे यन्नवता मुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः'**—पद-पद पर नवीनता का चोगा पहनकर ही अपने को रमणीयता में व्यक्त किया जा सकता है; इस घोष को मुखर करता हुआ भी व्यक्ति बहुधा सत्य के साथ आंख-मिचौनी करने लगता है। यहीं से समस्याओं का वेग बढ़ता है

और यहीं से ध्वंस की ध्वनि व्याप्त होने लगती है। युवा-वर्ग में नया खून, नया जोश होता है और वह अपनी रमणीयता में न्यूनता होने देना नहीं चाहता। एक वर्ग ऐसा होता है जो इसे कतई उचित नहीं मानता। यहीं द्वन्द्व ठन जाता है और मनोभेद से छन-छनकर दुराव बढ़ता जाता है। युवा-वर्ग इस अग्रगण्यता से अपने को हटाए। जोश के साथ सूझ-बूझ को योजित कर दे। कार्य की व्यग्रता में आत्मीयता का रस उंडेल दे। समस्या का छोर उसके हाथ लग जाएगा।

जिसके पैरों की धरती खिसकती है, उसकी स्वर्णिम कल्पनाएं भी कभी मूर्त नहीं हो पातीं। प्राचीन संस्कार युवकों की उर्वर भूमि है। इसी में बोया गया नवीनता का बीज कर्मशीलता का जल पाकर पुष्पित एवं फलित होता है। दोनों में से किसी एक का बहिष्कार भी गति को कुण्ठित कर देता है। वस्तु-सत्य के इस आलोक में युवकों को अपना निरीक्षण करना होगा। समस्याओं का समाधान इसी में आविर्भूत होगा।

त्रिवेणी संगम

जूझने की शक्ति नये खून में होती है, इसीलिए वहां घर्षण शीघ्र आरम्भ हो जाता है। अनुभवों की अल्पता घर्षण को शतगुणित कर देती है। प्रौढ़ अनुभवी युवक घर्षण को टालकर अपना पथ प्रशस्त करना चाहता है। वह सम्मुखीन दीवार को सिर से तोड़ने की अपेक्षा थोड़ा-सा रास्ता बदलकर व समय पाकर किसी यंत्र से तोड़ना आवश्यक और उचित समझता है। सामाजिक आधार, जो कि रूढ़ियों का चोगा पहन चुके हैं; पारिवारिक पद्धति, जो कि निष्क्रिय व निस्तेज हो गई है; रहन-सहन व वेशभूषा का प्रकार, जो कि निरुपयोगी प्रमाणित हो चुका है; शिक्षा व साहित्य, जो कि नई अपेक्षाओं की पूर्ति के अभाव में सिसकियां भर रहा है; राजनीति व अर्थनीति, जो कि दमघोंट वातावरण में सांस ले रही है; युवा वर्ग के हाथों उनकी शल्य-चिकित्सा आवश्यक है। पर चिकित्सक में धैर्य, सन्तुलन और रोगी को समझाने की मेधा भी आवश्यक है। यह त्रिवेणी संगम किसी की अपने प्रति उपेक्षा नहीं होने देगा, बल्कि आदर-भाव ही उत्पन्न करेगा।

समस्याएं अनेक हैं। मानसिक व्यग्रता उनकी संख्या को और बढ़ा देती है। धैर्य व सन्तुलन उनका समाधान होता है। युवक इनमें ओतप्रोत रहें, तो भविष्य स्वर्णिम है और कल्पनाएं बहुत शीघ्र आकार लेंगी।

छात्र-समुदाय में असन्तोष क्यों ?

असन्तोष इस युग की देन है। व्यापारी, राजकर्मचारी, श्रमिक, शिक्षक, नेता आदि सभी में असन्तोष है। विद्यार्थी वर्ग भी असन्तोष से अलग कैसे रह सकता था। प्रसन्नता की बात है, असन्तोष अभी तक अपनी सीमा नहीं लांघ पाया है। जब वह सीमा लांघ जाता है, वह खीज में बदल जाता है। खीज एक-दूसरे को पृथक् कर देती है।

असन्तोष किसके प्रति ?

असन्तोष भी दो तरह का होता है। एक में अपनी शक्तियों का प्रस्फोटन होता है; क्योंकि व्यक्ति को उस समय अपनी कमियों का आभास होता है। वह उन्हें पूर्ण करने का यत्न करता है। वह असन्तोष स्व के प्रति होता है, जो व्यक्ति के रचनात्मक दृष्टिकोण को उजागर करता है। दूसरे प्रकार के असन्तोष के केन्द्र में स्व गौण होता है। स्वयं कैसा है, इसका वहां पर अंकन नहीं होता, अपितु सारा ही चिन्तन दूसरे पर केन्द्रित हो जाता है। पर केन्द्रित चिन्तन इस युग में असन्तोष का मुख्य कारण बन रहा है। छात्र-समुदाय भी आत्म-केन्द्रित न रहकर पर-केन्द्रित हो गया है; इसीलिए यदा-कदा उसका असन्तोष फूट पड़ता है।

नये युग की नई पौध

विज्ञान का युग है। मनुष्य ने नया सोचने और नया करने का एक दृष्टि-बिन्दु पाया है। उपयोगिता और अनुपयोगिता उन सबका मुख्य आधार

है। प्राचीन और नवीन को उपयोगिता और अनुपयोगिता के आधार पर ही अपनाने का व्यक्ति ने दृष्टिकोण पाया है। नाना आविष्कारों के आधार पर जीवन-यापन के साधन भी वदले हैं। रहन-सहन, वेशभूषा, खान-पान आदि के तरीके भी वदले हैं। यहां तक कि सभ्यता के विकास से भाषा-प्रयोग में भी नये प्रकारों का श्रीगणेश हुआ है। स्थिति-पालकता का अवसान सन्निकट लग रहा है। ऐसे समय में जब किसी वर्ग-विशेष के द्वारा यथास्थिति चलने का आग्रह होता है, तो वहां असन्तोष उत्पन्न होता है, जो शमित न हो पाने पर खीज और टकराव में वदल जाता है। छात्र-समुदाय प्रवुद्ध होता है। वह नये युग की नई पौध है। यद्यपि उसका वीज पुरातन है, पर वह भूमिगत है। उसका वाह्य आकार नई धूप, ताजी हवा और उर्वर खाद पर पलता है। इसलिए ताजगी को लेकर ही वह आगे वढ़ना चाहता है। ऐसी स्थिति में वहुत सारे स्थिति-पालक इसे सहन नहीं कर पाते। छात्रों का यदि माता-पिता के प्रति असन्तोष आरम्भ होता है, तो उसका यही कारण होता है और यदि शिक्षक-वर्ग के प्रति वह होता है, तो वह कुछ कारणों से और आगे वढ़ जाता है। वहां व्यवहार की आत्मीयता का अभाव हो जाता है। अवस्था की तरुणाई आत्मीयता के तटों के बीच में सीमित रह सकती है, पर उसके वाद उच्छिन्न हो जाती है।

नये सृजन का विश्वास

सामाजिक रीति-रिवाज एक युग के प्रतीक होते हैं। हर युग में उनमें परिवर्तन अपेक्षित हो जाता है। कुछ व्यक्ति उस परिवर्तन के लिए तैयार नहीं होते। अपने विचारों से ही समाज को अंकित रखना चाहते हैं। छात्र-समुदाय नई करवट लेने वाला होता है। नये सृजन का उसका विश्वास होता है, अतः यहां पहुंचकर भी वह असन्तोप से घिर जाता है। समाज का वन्धन आवश्यक होता है, पर जव उसमें मनुष्य को वहुत अधिक अनपेक्षित जकड़ दिया जाता है, तव कराह उत्पन्न हो जाती है। इसी तरह अर्थ-व्यवस्था, राजनैतिक व्यवस्था आदि भी असन्तोप को उभारने वाली हो जाती हैं।

अणुव्रत आन्दोलन अनपेक्षित स्थिति-पालकता का विरोधी है। नये चिन्तन का यहां स्वागत है और व्यक्ति के कर्त्तृत्व का विकास है। व्यावहारिक आत्मीयता का क्रमश: विस्तार होता है और उसमें व्यक्ति के प्रत्येक पहलू को परखा जाता है। इस आन्दोलन में भारत के अतीत की झलक है, तो वर्तमान का भी स्पष्ट आभास। युवा पीढ़ी विगत की धरोहर को साथ लेकर वर्तमान को आलोकित करने के लिए एक व्यवस्थित शृंखला है, उसी कार अणुव्रत-आन्दोलन विगत को वर्तमान के आलोक में प्रस्तुत करने का विचार-प्रधान प्रकार है।

राष्ट्रीय एकता के प्राचीन और अर्वाचीन सूत्र

एक युग में मनुष्य व्यष्टि था। एकता और अनेकता का वहां कोई प्रश्न ही नहीं था। अपनी सीमित आवश्यकताओं को सीमित साधनों से पूर्ण कर वह तृप्ति का अनुभव करता था। जब उसे एकाकीपन का भान हुआ और किसी के सहयोग की अपेक्षा हुई, तो मनुष्य की मनुष्य से निकटता बढ़ी। वहां से सौजन्य के बीज अंकुरित होने लगे। पड़ोसी-धर्म की भावना का उदय हुआ। सहयोग देने और लेने का विचार आया। अपने हित-साधन की प्रवृत्ति बढ़ी। अरति-विमुक्ति के नये-नये प्रकार खोजे जाने लगे और उनके आधार पर व्यक्ति क्रमशः समष्टि में बदलता गया।

नाना समष्टियों का श्रीगणेश

सभ्यता और संस्कृति का विकास समष्टि-सापेक्ष होता है। इकाई में उसका मूर्तरूप स्पष्ट नहीं हो पाता। वहां अहं, वितृष्णा, छद्म व ममत्व के उभरने का अवकाश भी क्या हो सकता है? जब इकाई भंग हुई और समष्टि का सूत्रपात हुआ, तो सांस्कृतिक विकास के साथ-साथ अन्यान्य विकृतियां भी बढ़ीं; स्वार्थ को पालने का भी मौका मिला और उसने एक समष्टि के स्थान पर छोटी-छोटी नाना समष्टियों का श्रीगणेश कर दिया। अनेकता का बीज-वपन भी वहीं से हुआ।

मानव दुर्बलताओं का पुतला है। अपने असदाचरण को ढंकने के लिए हमेशा ही उसने तर्क का सहारा लिया है। अपनी अहं-पूर्ति में जब

उसे कोई अवरोधक दृष्टिगत हुआ, उसे एक ओर धकेला तथा उस कार्य को समुचित सिद्ध करने के लिए उसने तर्क की प्रयोगशाला में विवेक की मुहर लगाई। उस समय प्रतिशोध भड़का और उसने वंचना के द्वारा विभेद की दीवार खड़ी कर दी। फलस्वरूप अनेकता को पनपने का विशेष अवसर हस्तगत हो गया। अनेकता के कीटाणु द्रुत गति से बढ़ते गए और सर्वत्र छितर गए।

सर्वोपरि इकाई

अनेकता से विषमता बढ़ी। व्यवहार में अवरोध उत्पन्न हुआ। बनते हुए कार्य बिगड़ने लगे। चिन्तक इस दिशा में यत्नशील हुए, तो उसके प्रतिकार के कुछ मार्ग सूझे। एक समष्टि दूसरी समष्टि के निकट आने लगी। एक-दूसरे को समझने के प्रसंग उपस्थित हुए। कुछ समान विचार दृष्टिगत हुए। उन्हें आगे रखकर कदम बढ़ाया गया, तो व्यवस्थित समाज की परम्परा आरम्भ हो गई। इसी क्रम ने राष्ट्रीयता को जन्म दिया और वह कालक्रम के आरोहों-अवरोहों के साथ क्रमशः सभी समष्टियों की सर्वोपरि इकाई बन गई।

राष्ट्रीयता की कलई में छोटे-बड़े समाज, राज्य और प्रान्त इतनी घनिष्ठता से आबद्ध हुए हैं कि उनकी पृथकता किसी को भी स्वीकार्य नहीं है। भारतवासियों का उठने वाला प्रत्येक चरण कंटीली झाड़ियों से गुजर सकता है, पर अपनी एकता में दरार कभी भी स्वीकार नहीं कर सकता। हर क्षण नया विकास चाहता है। विकसित समष्टि—राष्ट्रीयता में यदि और विकास होता है, तो मनुष्य अपनी इस मंजिल पर जा बैठने को उत्कण्ठित होगा, जहां 'विश्वमेकं' के अतिरिक्त अन्य कोई स्वप्न हो भी नहीं सकता। किन्तु वर्तमान परिस्थिति में इसे कल्पना के अतिरिक्त और कुछ कहा ही क्या जा सकता है।

भारतवर्ष निर्माण की दुरुह घाटियों को पार करता हुआ आगे बढ़ रहा है। नाना समस्याएं उसके सामने हैं। धर्म, जाति, भाषा और प्रान्त की विभिन्नता और आबादी की बहुलता में समय-समय पर राष्ट्रीय एकता पर आघात पहुंचते हैं। 'नास्ति मुनि र्यस्य मति र्न भिन्ना'—श्रुतियों और

स्मृतियों के इस वाक्य के आधार पर मत-भिन्नता स्वाभाविक है। पर, जब वह एकान्त आग्रह की ओर बढ़ जाती है, अनेकता के स्रोत वहां से फूट पड़ते हैं, जो भयावह परिणाम के जनक होते हैं। अनेकता की वेल यद्यपि मत-भिन्नता की भूमि पर अंकुरित होती है, किन्तु आग्रह के जल से सिंचित होकर वह अतिशय विषैली बन जाती है। राष्ट्रीयता का आधार वहां से खिसक जाता है। उसके प्राचीन आधार क्या रहे हैं, इतिहास के पृष्ठों पर हमें उसे खोजना है तथा अपने अनुभवों के सम्बल पर नये आधार क्या हो सकते हैं, यह भी अनुशीलन करना है।

प्राचीन सूत्र

गौतम बुद्ध से एक बार पूछा गया—'लिच्छवी-वृज्जिसंघ कब तक चलते रहेंगे ?'

गौतम बुद्ध ने कहा :

१. जब तक लिच्छवी-वृज्जिसंघ की सभा बार-बार और उपस्थिति यथेष्ट संख्या में होती रहेगी।

२. जब तक वृज्जि लोग एक साथ मैत्रीपूर्ण वातावरण में मिलेंगे, विदा लेंगे और उसी सौहार्दपूर्ण वातावरण में एक साथ मिलकर राष्ट्र-सभा की कार्यवाही को पूरा करेंगे।

३. जब तक वृज्जि लोग बाकायदा कानून बनाए बिना कोई आज्ञा प्रसारित नहीं करेंगे; पुराने राष्ट्रीय नियमों का उच्छेद नहीं करेंगे, नियम से चलते हुए पुराने वृज्जि धर्म का पालन करते रहेंगे।

४. जब तक वृज्जिगण अपने बुजुर्ग—वृद्ध वज्जियों और नेताओं का आदर करते रहेंगे।

गौतम बुद्ध के उपरोक्त चार सूत्र ढाई हजार वर्ष प्राचीन होते हुए भी नवीन जैसे लगते हैं। राज्य-व्यवस्था कभी एक के अधीन होकर नहीं चला करती है। जनतंत्र में तो और भी अधिक व्यक्तियों का समुदाय उसे संचालित करता है। ऐसी परिस्थिति में केन्द्रीय सभा की उपस्थिति में न्यूनता, पारस्परिक सौहार्द में अल्पता, बुजुर्ग व नेताओं के आदर में कमी होती है, तो सारा ही ढांचा अस्त-व्यस्त हो जाता है।

अर्वाचीन सूत्र

आचार्यश्री तुलसी के समक्ष भी यह प्रश्न आया। अणुव्रत-भावना के आधार पर उन्होंने समाधान दिया।

१. प्रशासन में भाई-भतीजावाद को प्रोत्साहन न दिया जाए। सिफारिश के आधार पर किसी मसले को हल न किया जाए। आज का काम कल पर न छोड़ा जाए। जाति, धर्म व प्रान्तीयता के आधार पर नियुक्ति व पद-वृद्धि न की जाए।

२. नागरिक अपनी सीमाओं का अतिक्रमण न करें। अपनी तथाकथित हित-साधना में दूसरों के हित को कुचलने का प्रयत्न न करें।

३. न्याय-प्राप्ति में सब के समानाधिकार की अवहेलना न की जाए। न्याय महंगा न हो।

४. कोई व्यक्ति किसी को तिरस्कृत, अपमानित व लांछित करने का प्रयत्न न करे।

५. भ्रातृत्व के आधार पर प्रत्येक समस्या का समाधान खोजा जाए।

चार प्राचीन व पांच नवीन—ये नौ सूत्र राष्ट्रीय एकता के मौलिक आधार बन जाते हैं। उन आधारों पर चलता हुआ व्यक्ति परिवार से समाज व समाज से देश की ओर बढ़ेगा तथा विश्वैक्य की दुरूह मंजिल तक भी पहुंचने में सफल हो सकेगा।

'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में प्रकाशित

युवक मानस और धर्म

युवक धर्म से दूर क्यों भागे जा रहे हैं, यह प्रश्न बहुधा सामने आता है। इस प्रश्न के सन्दर्भ में कुछ तथ्य हैं, जिनकी ओर चिन्तन केन्द्रित होना चाहिए। बचपन में अधिकांश बच्चों में धार्मिक भावना होती है। वे अपने माता-पिता द्वारा निर्दिष्ट धार्मिक स्थान पर बड़े चाव से जाते हैं, और नतमस्तक होकर अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हैं। बुढ़ापे में पचानवे प्रतिशत व्यक्ति धर्म के प्रति श्रद्धाशील देखे जाते हैं। बीच की अवस्था ही ऐसी क्यों है, जिसके लिए हर युग में यह प्रश्न उठता है।

बचपन, जवानी और बुढ़ापे की त्रिवेणी में स्नात होकर जीवन अपनी भावी मंजिल तक पहुंचता है। बचपन में सरलता अधिक होती है; अत: वह अपने लिए व दूसरों के लिए भी सरसता का उद्भावक होता है। ज्यों-ज्यों अवस्था बढ़ती है, अनुभवों का द्वार भी खुलता है। जिज्ञासा जिस समय तर्क के लम्बे मार्ग की ओर बढ़ती है, तो नास्तिकता की कंटीली झाड़ियों में उसका उलझ जाना अस्वाभाविक नहीं है। वह झुंझलाहट अपने परिपार्श्व को कोसती है। व्यक्ति जब अपने पड़ोसी को आहत करने में सफल नहीं होता है, तो उसकी भैंस पर ही अपना रोष निकालता है। यही स्थिति उस समय धर्म की होती है। तर्क जब अपने रहस्य का सम्पुट खोलने में तथा उसका समाधान पाने में अक्षम होती है, तो धर्म पर उसका आक्रमण होता है। और अपने सारे रोष का ज़हरीला घट उस पर उंड़ेला जाता है। लोमड़ी जब अंगूरों तक न पहुंच पाए, तो वे खट्टे नहीं होंगे, इसका क्या प्रमाण ?

श्रद्धा का अंकुर तथा तर्क का पानी

जो बुजुर्ग अपनी नौनिहाल पीढ़ी को धर्म से अनुप्राणित देखना चाहते हैं, उनके लिए भी अन्तःनिरीक्षण की आवश्यकता है। युवक मानस में श्रद्धा के अंकुर तभी फूट सकेंगे, जब उसे तर्क के पानी से यथोचित सींचा जाएगा; अन्यथा वह असमय ही मुरझा जाएगा तथा अपने अस्तित्व को खो देगा। खेद का विषय है, बुजुर्गों का ज्ञान-कूप इतना गहरा हो गया है कि उसमें तर्क का जल है या नहीं, है तो कहां है; इसका अनुमान सहज ही नहीं लगाया जा सकता। बुजुर्ग शब्द के अन्तर्गत वे सभी अभिप्रेत हैं, जो युवकों के अभिभावक हैं; धर्म के वे प्रतिनिधि, जो सत्य को अपनी चहारदीवारी में ही सुरक्षित समझते हैं, धर्म को केवल पारलौकिक संवल मानने में ही अपना गौरव मान बैठे हैं तथा तर्क की कान्त पदाहति भी सहने में अक्षम हैं।

एक ओर तर्क की मुखरता है। दृश्य के अतिरिक्त अन्य किसी का अस्तित्व भी नहीं है। भोजन, आवास व वस्त्र की सुलभता ही आत्मतृप्ति का कारण बनाती है। भौतिक साधनों के चाकचिक्य की अधिकता युवकों को अपनी ओर अतिशय आकृष्ट करती है। आध्यात्मिकता वहां नीरस व अव्यवहार्य जैसी प्रतीत होने लगती है। साधना प्रायः दैहिक कष्ट-सापेक्ष होती है। आध्यात्मिकता के स्रोत वहीं से फूटते हैं। युवक मानस कष्टों से कतराता है। भौतिकता में उसे केवल सुख ही दृष्टिगत होता है; अतः वह आध्यात्मिकता से पराङ्मुख होकर चलना ही अपने लिए भलाई मान बैठता है।

युवक मानस में तर्क के बुदबुदे बहुत उठते हैं। धर्म का क्षेत्र भी उससे बचा कैसे रह सकता है! तर्क को ही यदि नास्तिकता का लक्षण मान लिया जाता है, तो युवक मानस उस धर्म के प्रति कैसे आकर्षित हो सकता है। जिसे हम आवश्यक मानते हैं, उसकी गहराई में जाने के लिए सामने वाला व्यक्ति तर्क करेगा। उसकी तर्कों का शमन करने के बजाए यदि उस पर बरसा जाता है, तो धार्मिकता के प्रति वह कैसे आकर्षित होगा। तर्क से धर्म को भय नहीं है। उससे तो उसके सम्पुट खुलते हैं जिसकी छाया में

अनायास ही व्यक्ति तृप्ति का अनुभव करता है। यह तृप्ति ही तो धर्म है।

आदर्श और व्यवहार का समन्वय धर्म के स्वरूप को निखारता है। आदर्श व्यवहार से जब पिछड़ जाता है तब वह निष्प्राण होकर घृणा का आस्थान वन जाता है, धर्म की वहां उपेक्षा होती है और उससे व्यक्ति दूर भागता है। आज के युवक मानस को वह धर्म आकर्षित नहीं कर सकता, जहां धार्मिक व्यक्ति आदर्श और व्यवहार के वीच लम्वी दीवार खड़ी करते हों।

साहित्य का आधुनिकीकरण

प्राचीन 'साहित्य' प्रत्येक धर्म, परम्परा व समाज की मौलिक निधि होता है। उसका अनुशीलन प्रत्येक व्यक्ति के लिए हितावह होता है। शिक्षित युवक उस साहित्य की ओर भी उन्मुख होना चाहता है। किन्तु प्राचीन लिपि और प्राचीन आकार को देखकर वह कतरा जाता है और चाहते हुए भी वैसा नहीं कर पाता। युवक मानस उस साहित्य पर विवेचन, सम्पादन और विस्तार चाहता है। यदि ऐसा होता है, तो उसका सहज आकर्षण वढ़ता है और उसके माध्यम से आध्यात्मिकता के महत्त्वपूर्ण पहलुओं को हृदयंगम कर सकता है। वर्तमान का साहित्य सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का इतना प्रतीक नहीं है। उसके माध्यम से आध्यात्मिक मूल्यों की इतनी प्रतिष्ठा नहीं हो पा रही है। साथ ही धार्मिक साहित्य आधुनिक विवेचन, सम्पादन आदि के अभाव में पड़ा केवल भंडारों की ही शोभा वढ़ा रहा है। कुछ वर्ष पूर्व एक साहित्यकार ने मुझे वताया— "मैं जैन कथाओं का चयन करना चाहता हूं। यह विषय मुझे आकाशवाणी की ओर से दिया गया है। कुछ जैन मित्रों से जव मैंने इस वारे में साहित्य मांगा, तो उन्होंने मुझे एक पुस्तक दी। मैंने उसे दो-चार वार पढ़ने का प्रयत्न किया, समय भी काफी लगाया किन्तु उससे हस्तगत कुछ भी नहीं हुआ। आप यदि ऐसी पुस्तक सुझा सकें, तो अच्छा रहे।"

मैंने पूछा—"वह पुस्तक कौन-सी थी?"

साहित्यकार ने वह पुस्तक मेरे हाथ में दी। पुस्तक का नाम था— 'आराधना सार कथा कोश'। मैंने उस पुस्तक को हाथ में लिया, कुछ

पन्ने उलटे। वह इतना पुराना संस्करण था कि प्रयत्न करने पर भी मैं उस पुस्तक से बहुत थोड़ा पा सका। मेरे मन में आया, जैन परम्परा से अपरिचित एक व्यक्ति इस पुस्तक से सहजतया क्या पा सकेगा? मैंने उन्हें जैन कहानियां, जो नौ भागों में उन्हीं दिनों आत्माराम एण्ड संस द्वारा प्रकाशित हुई थीं, सुझाईं। वे उस साहित्यकार के लिए बहुत उपयोगी हुईं।

वास्तविकता यह है कि आज के युग में मनुष्य की व्यस्तता बहुत बढ़ गई है। थोड़े समय में अधिक पाने की मनोवृत्ति बढ़ती ही जा रही है। ऐसी परिस्थिति में बहुत समय में थोड़ा प्रदान करने वाले साहित्य की ओर युवक मानस अग्रसर कैसे हो पाएगा! युवकों में धार्मिक संस्कारों को जागृत, विकसित व सुदृढ़ करने के लिए आवश्यक है कि साहित्यिक माध्यम को बलवत्तर किया जाए।

चली आ रही परम्पराओं का सर्वथा उन्मूलन कर नये निर्माण की नींव भरने की अभी तक आवश्यकता अनुभूत नहीं हो रही है, केवल थोड़े से परिवर्तन से ही काम चल सकता है। वहां मौलिकता अक्षुण्ण रहेगी और वह अपने अंचल में तर्कशील युवक मानस को सहजतया ही समेटे चल सकेगी।

भगवान् महावीर का अहिंसा दर्शन

प्रभावी परिणाम

भगवान् महावीर और अहिंसा; दोनों शब्द एक-दूसरे के पर्यायवाची बन गए हैं। क्योंकि आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व अहिंसा शब्द अन्ध-विश्वासों की सघन परत के नीचे इस प्रकार दब गया था, मानो उसका कोई अस्तित्व ही न हो। भगवान् श्री महावीर ने साधना के द्वारा अपनी अनन्त शक्तियों को जागृत किया तथा उनको अहिंसा के पुनरुत्थान में प्रयुक्त किया। उन्होंने अहिंसा को शैवाल की तरह केवल सतही रूप ही नहीं दिया, अपितु तलस्पर्शी मुक्ता के रूप में उसे निखारा। इसी का प्रतिफल था कि अहिंसा मात्र गिरि-कन्दराओं की ही साधना न रहकर समाज की ज्वलन्त समस्याओं के निराकरण में भी व्यवहृत होने लगी और उसके प्रभावी परिणाम समाज के सम्मुख आने लगे।

अहिंसा के विभिन्न रूप

उस युग में मानसिक व वाचिक हिंसा तो मुख्य हो ही गई थी, उसके साथ-साथ कार्मिक हिंसा भी धर्म का चोगा पहनकर समाज के समक्ष प्रस्तुत हो रही थी। फलतः सभी विश्वास एक-एक कर बदलते गए थे। रक्त से सने हाथ भी धर्म की दुहाई देते हुए नहीं अघा रहे थे। मानव का मूल्य पशु जितना हो रहा था, पशु का मूल्य कीट-पतंगों जैसा और कीट-पतंगों की ओर तो कोई निगाह भी नहीं थी। महावीर ने उस समय साधना के द्वार से ज्ञानमय नेत्रों के माध्यम से उस परिस्थिति को देखा। उन्होंने प्राण-

वियोजनात्मक हिंसा का निषेध करने के साथ-साथ समता, सह-अस्तित्व, मैत्री आदि के रूप में उसे विकसित भी किया। वे अहिंसा की साधना में इतने गहरे उतरे थे कि शत्रु को मित्र बनाने की अपेक्षा में वे किसी को अपना शत्रु ही नहीं समझते थे। प्राणि-मात्र के प्रति उनकी सघन मित्रता थी।

उन्होंने कहा—"कायिक दुष्प्रवृत्ति, वाचिक उच्छृंखलता तो हिंसा है ही, किन्तु किसी के प्रति दुश्चिन्तन करना भी हिंसा है। साधक सर्वदा इससे बचे।"

"बोधि का सार क्या?" यह पूछे जाने पर महावीर ने कहा—"हिंसा से उपरत होना तथा अहिंसा व समता में प्रतिष्ठित होना।"

उस युग में सहस्रों पशुओं व मनुष्यों की बलि यज्ञ-यागों में दी जाती थी। महावीर ने उसकी हेयता पर करारा प्रहार किया और कहा—"वास्तविक यज्ञ तो वह है, जिसमें तप रूप अग्नि होती है, जीव ज्योति के रूप में होता है, मन, वचन, काया के योग कड़छी रूप होते हैं, शरीर कारिषांग होता है, कर्म ईंधन होता है, योग शान्ति-पाठ होता है। ऐसे ही यज्ञ में हवन करना चाहिए। यही यज्ञ प्रशस्त है।"

यह उपदेश केवल उच्चारण तक ही सीमित नहीं रहा। उसका सामाजिक रूप भी बना। सहस्रों-सहस्र मनुष्यों का हृदय आन्दोलित हुआ और वे यज्ञों की हिंसा से दूर हटे। मनुष्यों और पशुओं की बलि बन्द हुई।

अतात्त्विक जातिवाद

समता का विकास करने के लिए उन्होंने जातिवाद को अतात्त्विक बताया तथा धार्मिक क्रियाओं का अधिकार शूद्र तथा पददलित जातियों को भी प्रदान किया। उन्होंने कहा—"अछूत जाति से नहीं, आचरणों से होता है। दूसरों को हीन समझनेवाला ही वस्तुतः अछूत है।" इसके परिणाम-स्वरूप तत्कालीन स्थिति-पोषक जन-मानस ने संघर्ष का उद्घोष भी किया और महावीर के सम्मुख आकर डटे। किन्तु महावीर वीतराग थे। सहज समता तथा मैत्र्यैकचित्तता से उन्होंने उन सबको प्रभावित किया एवं

उनके विरोध का संहरण कर उन्हें साधना के क्षेत्र में अग्रणी किया। शूद्रों के धार्मिक अधिकार का विरोध करनेवाले स्वयं शूद्रों की सहवर्तिता में साधना-लीन हुए।

बहुधा देखा जाता है, मत-भिन्नता उग्र विरोध का निमित्त भी बन जाती है। धार्मिक क्षेत्र में भी जब ऐसा हुआ, तो सम्प्रदायों का उदय हुआ और कलह पनपने लगे। महावीर ने उस समय अहिंसा के विकास में विचार-सहिष्णुता पर बल दिया और दार्शनिक क्षेत्र में अनेकान्त का उद्भव किया। सप्तभंगी, सप्त नय, स्याद्वाद आदि उसके ही पोषक हैं। वक्ता तथा श्रोता; दोनों ही मूल अपेक्षाओं को ग्रहण करने का प्रयत्न करें, किन्तु आग्रही न बनें। मैं सत्य हूं और अन्य सभी असत्य, मैंने सत्य को पाया है, अन्य किसी ने नहीं, यह अहंभरा कथन आग्रह की भित्ति पर खड़ा होता है और आगे चलकर अहिंसा की कड़ी पर सचोट प्रहार करता है। महावीर ने कहा—"सत्य के साक्षात्कार का अधिकार सबको ही है, चाहे वह कहीं है, किसी भी परिस्थिति में है।' अहं भरे आग्रह को उन्होंने साधना में महान् बाधक माना।

भगवान् श्री महावीर का पुनीत सन्देश अहिंसा की वर्णावलि में उद्घोषित हुआ और ढाई हज़ार वर्ष के बाद भी वह जन-मानस को प्रीणित करता हुआ मानव की मानसिक खुराक बन रहा है।[1]

---

१. ८ अप्रैल, १९७१ को महावीर जयन्ती के अवसर पर आकाशवाणी, जयपुर से तथा २१ अक्तूबर, १९७१ को आकाशवाणी, दिल्ली से प्रसारित।

महामानव महावीर

महापुरुषों द्वारा नया विचार समाज को दिया जाता है। उससे रूढ़ विचारों का परिष्कार होता है और कुण्ठाओं का उन्मूलन होकर जीवन सन्तुलित होता है। किन्तु कुछ समय वाद वे ही विचार नये प्रवाह के अभाव में पुनः प्राचीनता की परत के नीचे दब जाते हैं। यह क्रम अनवरत चलता हुआ महामानव की अनिवार्यता को अनुभूत करा देता है। आज से ढाई हज़ार वर्ष पूर्व भी समाज की ऐसी ही रूढ़ स्थिति थी। उस समय मानव का अंकन जातीयता व अर्थ के आधार पर होता था। विवश मनुष्य का मूल्य एक पशु से अधिक नहीं था। वह पशुओं की भांति बाज़ार में वेचा जाता था। 'धनमेव अशेषधर्महेतुः'—धन ही धर्म का हेतु हो रहा था; अतः दीन व्यक्ति के परित्राण का निमित्त नियति के हाथों में चला गया था। धर्म-स्थान साम्प्रदायिक अभिनिवेश के स्थल बन चुके थे। उनके वाहर सत्य की उपलब्धि आकाश-कुसुम थी। महामानव महावीर ने ऐसे अवसर पर ही राजा सिद्धार्थ के घर जन्म लिया। तीस वर्ष की अवस्था तक उन्होंने तथाकथित धर्माचार्यों द्वारा होने वाले धर्म के उपहास को देखा। मानव की विडम्बनाओं का लेखा-जोखा लिया। उनका मानस रूढ़ परम्पराओं एवं जीवन की कुण्ठाओं के प्रति सजग हुआ। वे किसी से कुछ कहें, समाज में आन्दोलन करें, उससे पूर्व उन्होंने अपने को साधने की अपेक्षा अनुभूत की। राजकीय वैभव का परित्याग कर वे अकिंचन भिक्षु बने और साढ़े बारह वर्ष तक कठोर साधना के माध्यम से उन्होंने स्वयं को निखारा। अनुभूतियों की परिपक्वता एवं प्रभाव की पर्याप्त

विस्तृति के अनन्तर उन्होंने मानवता की प्रतिष्ठापना के लिए ठोस उपक्रम आरम्भ किए।

सत्य पैतृक धरोहर नहीं

साम्प्रदायिक अभिनिवेश चरम सीमा पर था। सम्प्रदाय-विशेष की विना दीक्षा के अध्यात्म के द्वार में प्रवेश ही निषिद्ध था; अतः साधना का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता था। सत्य मुक्त न रहकर सम्प्रदाय-विशेष की धरोहर हो गया था। महामानव महावीर ने सबसे पहले इसी कड़ी पर प्रहार किया। उन्होंने सत्य की उपलब्धि तथा साधना में मन की एकाग्रता को अनिवार्य माना, पर सम्प्रदाय-विशेष की दीक्षा को नहीं। यद्यपि उनके पास हजारों साधु और साध्वियों का वृहत् संघ था और एक व्यवस्थित क्रम से वहां साधना की जाती थी, पर उस संघ की सीमा से वाहर सत्य है ही नहीं, यह उनकी मान्यता नहीं थी। उनकी स्पष्ट घोषणा थी, संघीय वेशभूषा से दूर रहने वाला व्यक्ति भी देहमुक्त वन सकता है। अन्य सम्प्रदायों की वेशभूषा को भी साधना की निर्मलता में उन्होंने वाधक नहीं माना। उनका चिन्तन तो इससे भी आगे था। गृहस्थ वेश में रहने वाला व्यक्ति भी जल में कमल की भांति रहकर मुक्त हो सकता है। जिसने कभी धर्म को सुना भी नहीं, वह भी मानसिक एकाग्रता तथा तपस्या के माध्यम से वीतरागता तक पहुंच सकता है। किसी घटना-विशेष से प्रतिवुद्ध होकर विना किसी गुरु-परम्परा में दीक्षित हुए भी साधना के अन्तिम छोर को पाया जा सकता है। महामानव महावीर की यह उद्घोषणा सत्य को पैतृक धरोहर से मुक्त करने में सफल हुई। श्रमण व वैदिक सम्प्रदायों के तत्कालीन धर्माचार्यों के समक्ष यह एक महान् चुनौती थी।

सापेक्ष दृष्टि

सत्य शब्दातीत होता है। वह अनुभूति का ही विषय है। वाच्यता में उसका एक अंश ही ग्राह्य होता है। वहुधा व्यक्ति उस एक अंश को ही पूर्ण मानकर आग्रहशील हो जाता है। सत्य पर उस समय अभिनिवेश

का मुखौटा लग जाता है और विवादों का जन्म यहीं से हो जाता है। महामानव महावीर ने इसके लिए सापेक्ष दृष्टि दी। उन्होंने श्रोता और वक्ता—दोनों को वाच्य अंश को अन्य अंशों से निरपेक्ष न करने का चिन्तन दिया। इसका फलितार्थ हुआ—जो मेरा है, केवल वही सत्य नहीं है, अपितु दूसरों के पास जो है, वह भी सत्य हो सकता है। पूर्ण सत्य अनुभूति का ही विषय है, शब्द-गोचर नहीं। व्यक्ति शब्दों से ऊपर उठकर अन्तस्थ का पर्यवेक्षण करे। सौहार्द, सौजन्य तथा विचार-सहिष्णुता का मार्ग स्वयं प्रशस्त होता है और उसके प्रति सहज समता का उदय होता है। मतभेदों के निरसन का तथा मैत्री की वृद्धि का इससे सुन्दर कोई प्रकार नहीं हो सकता था।

समता का व्यवहार

धर्म-स्थानों पर सत्ता व सम्पत्ति का प्रभुत्व छा चुका था। गरीब साधनों के अभाव में इस जीवन में भी दुःख का अनुभव कर रहे थे और उन्हें धर्म का अधिकार न मिलने से परजीवन का सम्वल भी उनसे दूर हो रहा था। महामानव महावीर ने इसके प्रतिकार में सक्रिय कदम उठाया। उन्होंने अपने उपदेशों के साथ-साथ व्यावहारिक प्रयोग भी किए। एक बार मगध-सम्राट् श्रेणिक ने अपने नरक-गमन की अनिवार्यता को दूर करने का महावीर से उपाय पूछा। महावीर ने कहा—'पौनी कातकर आजीविका चलाने वाला श्रावक पूणिया अपनी एक सामायक यदि तुझे मोल दे दे, तो नरक-गमन टल सकता है।" श्रेणिक पूणिया के घर गया, पर वह पूणिया श्रावक से एक सामायक भी खरीद न सका। सत्ता व सम्पत्ति का एकछत्र सम्राट् गरीब श्रावक के घर से खाली हाथ लौटा। साधना के क्षेत्र में यह प्रयोग देखकर सत्ता व सम्पत्ति का सिंहासन तब से हिल उठा। 'समया सव्व भूयेसु'—सब प्राणियों में समता के व्यवहार का यह मूर्त उदाहरण था।

दास-प्रथा

उन दिनों दास-प्रथा ने भी मानवता का गला घोंट रखा था। अभाव-ग्रस्त तथा परिस्थितियों से विवश मनुष्य को यातनामय जीवन जीना होता

था। एक बार जो दास बन गया, जीवन-भर उसकी मुक्ति का कोई मार्ग नहीं था। महामानव महावीर ने इस प्रथा के विरुद्ध भी आवाज़ उठाई। उस आवाज़ में साधना का ओज था, अतः सफलता भी सुगमता से मिली। विचार-क्रान्ति के साथ-साथ उन्होंने उसे व्यावहारिक रूप भी दिया। कौशाम्बी के सघन बाज़ार में कुछ ही दिनों में दो-दो बार बिकने वाली दासी चन्दनबाला को उन्होंने अपने संघ की छत्तीस हज़ार साध्वियों में सर्वोच्च स्थान (प्रवर्तिनी पद) प्रदान कर दासों को गौरवान्वित किया और सदा के लिए समाज से उस प्रथा को हटाने में वे सफल हुए।

अछूत समस्या

दलित, परिगणित व अनुसूचित जातियों की भी दयनीय स्थिति थी। व्यक्ति की उच्चता व अवनतता का आधार कर्म न होकर कुल था। वंश-परम्परा ही व्यक्ति का मानदण्ड थी। जातीयता मानवीय उच्चताओं को निगल रही थी। उस समय महामानव महावीर ने स्पष्ट शब्दों में उद्घोषणा की :

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र अपने-अपने कर्म से होते हैं, जन्म से नहीं। तत्कालीन परिस्थितियों में एक विद्रोह-भावना जगी। महावीर का खुला विरोध किया गया। उन्हें नास्तिक कहकर अवमानित करने का असफल प्रयत्न किया गया। किन्तु, आश्चर्य था, विरोध स्वयं हतप्रभ हुआ और जातीयता को प्रधानता देने वाले हज़ारों ब्राह्मण-पुत्र तथा शौच धर्म को सर्वोच्च माननेवाले हज़ारों संन्यासियों ने उनके धर्म-संघ में दीक्षित होकर अग्रणी स्थान प्राप्त किया। महावीर ने अपने संघ में राज-कुमारों, श्रेष्ठि-पुत्रों और ब्राह्मण-पुत्रों को दीक्षित कर समभूमिका प्रदान की, तो हरिकेशी जैसे चण्डाल-पुत्र को भी साधना का समान अवसर प्रदान कर जातीयता के गौरव को निरस्त किया। महावीर के आदर्श केवल वाणी तक ही सीमित नहीं थे, अपितु व्यवहार-क्षेत्र में भी उतरे हुए थे।

महावीर ने मानवीय समस्याओं का अंकन किया और उन्हें अध्यात्म के सहारे समाहित करने का उपक्रम किया। सामाजिक विषमताओं के उन्मूलन को उन्होंने अपनी साधना का ही अंग माना। इसीलिए करोड़ों आत्माओं के वे भगवान् बने। उनकी भगवत्ता में उनकी महामानवता का स्पष्ट प्रतिबिम्ब था, अतः जन-मानस पचीस शताब्दियों से उनकी स्मृति में अपने श्रद्धा-सुमन चढ़ा रहा है तथा भविष्य में अनगिन शताब्दियों तक वह चढ़ाता भी रहेगा।[1]

---

१. १९ अप्रैल, १९७० को 'वीर अर्जुन', नई दिल्ली में प्रकाशित।

भगवान महावीर के जीवन-प्रसंग

जन-कल्याण का भगीरथ प्रयत्न

भारतवर्ष की महान् विभूतियों में भगवान् श्री महावीर का नाम अग्रणी है। वे इसलिए नहीं पूजे गए कि वे एक राजकुमार थे और न केवल इसलिए भी स्मरणीय बने कि उन्होंने उत्कट साधना की थी। क्योंकि साधना के द्वारा जीवन को निखारने वाले करोड़ों मानव हो चुके हैं, जिनमें से कुछेक तो इतिहास के गर्भ में समा चुके हैं और कुछ इतिहास के केवल उभरते हुए पृष्ठों तक ही सीमित हैं। किन्तु जन-जन के मुख पर उनका कोई विशेष नाम नहीं है। जनता उन पुरुषों को विशेष याद करती है, जिन्होंने अपनी साधना के साथ जन-कल्याण के लिए भी भगीरथ प्रयत्न किया। भगवान् श्री महावीर एक ऐसी ही विभूति थे, जिन्होंने जितना प्रयत्न अपनी साधना के लिए किया था, उतना ही प्रयत्न जनता के सुसुप्त मानस में विवेक जगाने के लिए किया था। जनता अपने उपकारी का ही युग-युगान्त तक स्मरण करती है और उसके ही पावन चरणों में श्रद्धा के कोमल कुसुम चढ़ाकर उऋणता का अनुभव करती है।

भगवान् श्री महावीर का बाल्य व यौवन राजकीय वैभव के बीच बीता। उभरता हुआ यौवन जहां मनुष्य में अल्हड़ता व उन्माद जागृत करता है, वहां भगवान् महावीर को उसने अनुरक्ति से विरक्ति की ओर मोड़ा। तीस वर्ष की अवस्था में वे परिव्राजक बने। साढ़े बारह वर्ष तक वे एकान्त स्थान में, गिरि-कन्दराओं में, सूने घरों में, सघन जंगलों में या टूटे-फूटे देवालयों में अपनी आत्मा को तपस्या व ध्यान के द्वारा निखारते

रहे। उनका ध्यान केवल जाप तक ही सीमित नहीं था, अपितु उसमें सृष्टि के प्रत्येक पहलू पर, चाहे वह जड़ हो या चेतन, सामाजिक हो या आध्यात्मिक, चिन्तन चलता था जो सिद्धि प्राप्त करने के अनन्तर वाणी द्वारा लाखों व्यक्तियों के हृदय में उतरा व उनका आलोक बना।

सत्य और अहिंसामय

साढ़े बारह वर्ष की उत्कट साधन के बाद वे सत्य और अहिंसा के उपासक ही नहीं, अपितु सत्य व अहिंसामय ही बन गए थे। आत्मा की चरम पवित्रता अहिंसा व सत्य के द्वारा होती है, यह स्थूल कथन है। वस्तुतः तो अहिंसा या सत्य से व्यतिरिक्त कोई आत्मा हो भी नहीं सकती। जितना आवरण इन पर पड़ा होता है, उतना ही अवरोध रहता है, जिसका परिणाम अज्ञान या जड़ता होता है और उसकी अभिव्यक्ति भी साधना शब्द में की जाती है।

आदर्श और व्यवहार

कोई भी आदर्श प्रेरणा का रूप तब लेता है, जब कि वह व्यवहार में उतरता है। भगवान् श्री महावीर अहिंसा व सत्य की प्रतिमूर्ति थे, अतः जनता के दिल में उनकी घटनाओं ने अधिक स्थान पाया, जब कि उन्होंने अपने प्रथम साधु शिष्य गौतम स्वामी व सम्राट् श्रेणिक जैसे श्रावक को स्पष्ट शब्दों में एक को क्षमा मांगने का निर्देश दिया तथा दूसरे को उसकी अपनी नरक-गमन की भवितव्यता बतलाई। साधक सत्य का अवलम्बन करे, यह स्थूलता है। पर वह उसे आत्मसात् करे, यह प्रथम अपेक्षा है। जो सत्य को आत्मसात् कर लेता है, उसके समक्ष दूसरों की आत्मा भी निखरती है। गणधर इन्द्रभूति (गौतम स्वामी) एक बार गोचरी के लिए वाणिज्य ग्राम में पधारे। शहर में उन्होंने आनन्द श्रावक के अनशन की चर्चा सुनी, तो उनके मन में वहां जाने का भाव जागृत हुआ। वे आनन्द श्रावक की पौषधशाला में आए। आनन्द ने शारीरिक असामर्थ्य के कारण लेटे-लेटे वन्दना की और चरण स्पर्श किया। आनन्द ने कहा—भगवन् गौतम ! क्या गृहस्थ को आमरण अनशन में अवधिज्ञान

उत्पन्न हो सकता है ?"

गौतम—"हां, हो सकता है।"

आनन्द—"मुझे अवधिज्ञान प्राप्त हुआ है और उससे मैं उत्तर में हेमवन्त पर्वत तक, दक्षिण, पश्चिम और पूर्व में पांच सौ योजन लवण समुद्र तक, ऊपर सौधर्म देवलोक तक और नीचे प्रथम नरक के लोलुच नरकवास तक देखने व जानने लगा हूं।"

गौतम—"आनन्द ! गृहस्थ को इतना विशाल अवधिज्ञान नहीं मिल सकता। अनशन में तेरे से यह मिथ्या संभाषण हुआ है, अतः तू इसकी आलोचना या प्रायश्चित कर।

आनन्द—"प्रभो ! महावीर प्रभु के शासन में सत्याचरण का प्रायश्चित होता है या असत्याचरण का ?"

गौतम—"असत्याचरण का।"

आनन्द—"प्रभो ! आप ही प्रायश्चित करें। आप ही से असत्याचरण हुआ है।"

आनन्द की इस दृढ़तापूर्ण वार्ता को सुनकर गौतम स्वामी सम्भ्रान्त हुए। वहां से चलकर महावीर प्रभु के पास आए और वह सारा वार्तालाप उन्हें कह सुनाया। भगवान् महावीर ने कहा—"गौतम ! तुम्हारे से ही असत्याचरण हुआ है। तू आनन्द के पास जा और क्षमा-याचना कर।"

गौतम स्वामी तत्काल आनन्द के घर आए और कहा—"आनन्द ! भगवान् महावीर ने तुझे ही सत्य कहा है। मैं वृथा विवाद के लिए तेरे से क्षमा चाहता हूं।"

सत्य आत्मा का सहभावी

'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितंमुखम्'—स्वर्ण पात्र से सत्य का मुख ढंका रहता है। किन्तु, भगवान् श्री महावीर इस उक्ति के विरोधी थे। वे सत्य को आत्मा का सहभावी गुण मानते थे, अतः वस्तुसत्य हमारी अपेक्षा में चाहे वह कितना भी कटु क्यों न हो, वे मृदु ही समझते थे और उसके उद्घाटन में कभी सकुचाते नहीं थे। एक बार भगवान् श्री महावीर वृहत् श्रमण समुदाय के साथ राजगृह नगर पधारे। राजा श्रेणिक राज-

परिवार और सेना के साथ बड़े ठाठ से वन्दन करने के लिए आया। विशाल परिषद् में धर्मोपदेश हुआ। देशना के अनन्तर श्रेणिक राजा ने खड़े होकर विनम्र भाव से पूछा—"भगवन्! आपके निर्ग्रन्थ प्रवचन में मेरा पूर्ण विश्वास है और उसे ही मैं यथार्थ मानता हूं। आपके प्रति मेरी अगाध श्रद्धा है। आप बताएं, मैं यहां से काल-धर्म को प्राप्त होकर किस योनि को प्राप्त करूंगा?" सारी परिषद् जानने को उत्सुक हो उठी थी। श्रेणिक के मन में अपूर्व उत्साह था और निश्चित था, भगवान् मेरे लिए कोई विशिष्ट गति का ही निरूपण करेंगे।

भगवान् ने उत्तर दिया—"श्रेणिक! यहां से आयुष्य पूर्ण कर तू पहली नरक में पैदा होगा।"

श्रेणिक स्तब्ध रह गया। सारी परिषद् विस्मित हो उठी। भगवान् ने कहा—"श्रेणिक! डरो मत। तुम्हारा यह नरकवास बहुत ही लघु है। उस नरक योनि को पाकर तू फिर मनुष्य योनि को प्राप्त करेगा और मेरे जैसा भावी चौवीसी का प्रथम तीर्थंकर होगा।"

श्रेणिक—"भगवन्! किन कर्मों के परिणामस्वरूप मुझे यह नरक का भोग मिला?"

भगवान् ने कहा—"तूने अर्हत् धर्म प्राप्त करने के पूर्व शिकार खेलते समय एक गर्भवती मृगी को अपने वाण से मारा था और उस हिंसाकृत्य पर गर्वित हुआ था—मैंने कैसा लक्ष्य साधा है कि एक वाण से हिरणी और उसके गर्भस्थ बच्चे विंध गए। उस अकृत्य की अतिशय श्लाघा से यह निकाचित (नहीं टूटनेवाला) कर्म-वन्ध हुआ और वह तुझे अनिवार्य रूप से भोगना ही पड़ेगा।"

वृद्धावस्था में श्रेणिक राज्यलोलुप पुत्र कोणिक के द्वारा कारावास में डाला गया। माता चेलना के द्वारा कोणिक दुत्कारा गया, तो उसे अपने कृत्य पर पश्चाताप हुआ और वह पिता को मुक्त करने के लिए कारावास की ओर गया। श्रेणिक ने समझा, यह दुष्ट मेरी और भी विडम्बना करना चाहता होगा। अच्छा है, मैं अपने आप मर जाऊं। राजा के हाथ में विष-मुद्रिका थी और वह उस माध्यम से आत्महत्या कर मर गया और नरक-गामी हुआ।

आत्मबल व शरीर-बल

साधक का आत्मबल असीम होता है, किन्तु शरीर-बल कभी-कभी उसे तिरोहित कर स्वयं उस पर छा जाता है। उस समय शरीर के प्रति ममत्व उभर आता है, जिससे आत्म-पक्ष गौण हो जाता है। साधक जब अपनी अभिलषित मंज़िल पर पहुंच जाता है, तब वह साधक से सिद्ध बन जाता है। शरीर-व्यतिरिक्त आत्मा का उस समय स्पष्ट आभास होने लगता है। भगवान् महावीर को अपने साधनाकाल में भयंकरतम उपसर्ग झेलने पड़े थे। उनमें ये अम्लान रहे। जब उन्होंने कैवल्य प्राप्त कर लिया था, तब भी कुछेक प्रतिस्पर्धी व्यक्तियों ने यातना देना बन्द नहीं किया था। भयंकर वेदना उन्हें झेलनी पड़ी थी, फिर भी उदीनवृत्ति से वे उसे सहते रहे। उनका प्रतिकार नहीं किया और वेदना से मुक्त होने के लिए उन्होंने न बाधाकर्मी औषधि ही ग्रहण की। एक बार गोशालक जो भगवान् महावीर का ही बनाया हुआ शिष्य था, उनके पास आया। भगवान् के दो शिष्य साधुनाथों को उसने अपनी तेजोलब्धि से देखते-देखते भस्म कर दिया। स्वयं भगवान् महावीर पर भी उसका प्रयोग किया। वे जले नहीं, किन्तु उससे शरीर में दाह-ज्वर हो गया। छः महीने तक अपार वेदना रही। उस व्याधि से मुक्त होने के लिए एक प्रकार के पाक की आवश्यकता थी। रेवती श्राविका ने मोह-अनुकम्पावश वह पाक बना लिया। साथ ही उसने एक अन्य पाक भी पहले दिन बनाया था। मुनि भिक्षा के लिए जाने लगे। भगवान् महावीर ने अपने ज्ञान-बल से यह सारी स्थिति जान ली। उन्होंने साधु को सावधान करते हुए कहा—"पूर्व दिन निष्पन्न पाक में से थोड़ा अंश तुम मेरे लिए ला सकते हो, किन्तु, दूसरा जो है, वह मत लाना, क्योंकि वह मेरे लिए बना है।"

भगवान् श्री महावीर का जीवन अहिंसा और सत्यमय था। उनका आत्मबल अक्षुण्ण था, अतः शरीर-बल भी उनके अधीन ही रहता था। उनके जन्म-दिवस के उपलक्ष में करोड़ों व्यक्ति जहां श्रद्धा का अर्घ्य समर्पित करें, वहां अहिंसा, सत्य व आत्मबल की पुनीत प्रेरणा भी अपने में संजोएं, यह अपेक्षा है।[1]

---

१. २६ मार्च, १९६१ : 'नवभारत टाइम्स', दिल्ली-बम्बई में प्रकाशित।

पूज्यपाद आचार्यश्री कालूगणी

साधना से मन सधता है, इन्द्रियां संयमित रहती हैं, यह तो वास्तविकता है ही, पर निस्पृह भावना तथा अनासक्ति से संकल्पों की क्रियान्विति, योजनाओं की परिणति तथा स्वप्नों की आकृति कितनी सहज होती है, पूज्यपाद आचार्यश्री कालूगणी का जीवन इसका मूर्त उदाहरण है। वे साधक ही नहीं, साधकों के आचार्य थे। उनकी साधना भव्य ललाट, तेजोमय नेत्र, स्फूर्त व्यक्तित्व के माध्यम से झलकती थी। उनका वरद हस्त, अनुग्रहपूर्ण नेत्र और प्रभावक चरण-स्पर्श जिस व्यक्ति को प्राप्त हो गया, वह सब तरह से निहाल हो उठा। शुष्क जीवन उनका सान्निध्य पाकर कुछ ही क्षणों में सरस हो उठता था। उनके दिल में सब थे। यही तो कारण है कि स्वर्गस्थ हुए चौंतीस वर्ष वीत जाने के बाद भी उनके प्रति लाखों मस्तक श्रद्धा से अनायास झुक जाते हैं और उनके नाम मात्र से प्रत्येक के हृदय पुलक उठते हैं। उन्होंने वात्सल्य का पराग खुले हाथों विखेरा। चारों ओर विकीर्ण होकर उस पराग ने लाखों हृदयों को इतना तृप्त कर दिया कि भविष्य सदैव उस भूत के साथ जुड़कर अपने को गौरवशाली अनुभव करेगा।

वात्सल्य और अनुशासन

आचार्य एक संघ के शास्ता होते हैं। प्रशासन उनका सहज कार्य होता है। साधु और लाखों श्रावकों को उन्हें मार्गदर्शन देना होता है। जिस समय उनका प्रशासक भाव वात्सल्य से भावित होकर संघ के

सदस्यों को अग्रसर करता है, उस समय अनुशासन आत्म-धर्म बन जाता है और उसमें सहजता आ जाती है। फिर वह अनुशासन थोपा हुआ न होकर आत्मगत हो जाता है। पूज्यपाद आचार्यश्री कालूगणी ने सदैव ऐसे ही प्रयोग किए। उन्होंने संघीय अनुशासन को विशेष प्रधानता दी। इस ओर की स्खलता का वे बहुत गहरा अंकन करते थे, चाहे कोई निकट के परिपार्श्व में रहने वाला है या आत्मीय जनों में से भी कोई है। अनुशासन का उल्लंघन उनको बहुत अखरता था, किन्तु अनुशासनात्मक कार्यवाही के अनन्तर ही हृदय उस व्यक्ति के प्रति वात्सल्य से भर जाता था। परिणामस्वरूप उनकी अनुशासकीय कठोरता किसी को भी कठोर प्रतीत नहीं हुई।

शासक और साधक

संघ की सारणा-वारणा का दायित्व आचार्य के सबल कन्धों पर होता है। छोटी अवस्था के साधु, शैक्ष, वृद्ध, ग्लान आदि सभी तरह के साधु संघ में होते हैं। उनके योग-क्षेम का दायित्व आचार्य पर होता है। आचार्य को बहुत सजगता से दायित्व-निर्वाहन में प्रवृत्त होना होता है। बहुत सारे प्रसंगों पर उनका शासकीय भाव उभरता है। यह सहज भी होता है, किन्तु शासक से अधिक वे कुशल साधक होते हैं, अतः हृदय से हृदय को जीतकर संघ की सारणा-वारणा में अपना कौशल दिखलाते हैं। पूज्यपाद आचार्यश्री कालूगणी जहां कुशल शासक थे, वहां वे मानसिक क्रियाओं के विश्लेषण में भी निष्णात थे इसीलिए संघ की नैरंतरिक अभिवृद्धि होती गई।

अजातशत्रुता

जहां केवल शासक-भाव होता है, वहां दूसरों से तलुवे सहलाने की अपेक्षा की जाती है। जो इस कला में दक्ष होता है, उसकी पांचों अंगुलियां घी में होती हैं और जो इससे उपरत होता है, उसके स्वाभिमान पर ठेस लगती है। सामाजिकता की धुरी के हिलने का बहुधा यही कारण होता है। इससे दो पक्षों का उभरना भी सहज होता है। जहां दो पक्ष उभरे,

वहां से प्रियता और अप्रियता का आरम्भ भी हो जाता है। समष्टि जीवन पक्षातीत नहीं हो सकता, किन्तु प्रमुख का कोई पक्षधर होना आवश्यक भी नहीं होता। जो शास्ता इस पैनी धार से बच निकलता है, उसकी अजातशत्रुता निर्विवाद होती है। पूज्यपाद आचार्यश्री कालूगणी के युग में भी सामाजिक संघर्ष के अनेक विषधरों ने अपने फन फैलाए, किन्तु आचार्यप्रवर ने अपने पक्षातीत व्यवहार तथा वात्सल्य के मधुर संगीत के आधार पर उनको निर्विष कर डाला। कहना चाहिए, विषधरों ने उस समय केवल फुफकारा ही, किन्तु वे डस नहीं पाए। यह इसलिए हो पाया कि आचार्यश्री कालूगणी का व्यक्तित्व पक्षातीत था। संघ की निरापदता में वही एक महान् हेतु था।

शिष्यों की प्रगति

साथ ही व्यक्ति के सार्वभौम व्यक्तित्व को उन्होंने कभी आंच नहीं पहुंचाई, बल्कि उसे उन्होंने अपना मानकर अर्घ्य के रूप में स्वीकार किया तथा उसमें अपनी संजीवनी का रस उंडेलकर मूर्च्छित को सजग किया और सजग को क्रियाशील किया। बहुधा प्रोत्साहन के अभाव में खिलता हुआ व्यक्तित्व निराशा के कुहासे में ढक जाता है और वहां से सारी संभावनाएं समाप्त हो जाती हैं।

अपना व्यक्तित्व बनाना सहज होता है, क्योंकि उसमें अपनी ही साधना निमित्त बनती है, पर दूसरे के व्यक्तित्व को प्रसरणशील करने में अपना सब कुछ उस पर न्यौछावर करना पड़ता है। वहां पर ही स्व बन जाता है। दूसरे शब्दों में कहना चाहिए, प्रगति चाहे अपनी है या दूसरे की, पराई होती ही नहीं है, अपनी ही होती है। आचार्य इस रेखा को अपनी जीवन-रेखा मानते हैं, इसलिए संघ की प्रगति उनकी होती है और उनकी प्रगति संघ की मौलिक थाती होती है। पूज्यपाद आचार्यश्री कालूगणी के जीवन की उभरती हुई गहरी रेखाएं युग-युग तक यही संकेत प्रदान करती रहेंगी। उन्होंने शिष्यों की प्रगति को सदैव अपना माना और उन्हें अग्रसर होने के लिए अनवरत प्रेरित किया।

पूज्यपाद आचार्यश्री कालूगणी एक बृहत् धर्म-संघ के आचार्य थे।

सैकड़ों साधु-साध्वियां तथा लाखों श्रावक-श्राविकाओं का उनका वृहत् परिवार था। सारे ही आचार्यप्रवर के प्रति आश्रित होकर साधना-निरत थे। आचार्यप्रवर की इतनी निस्पृहता थी कि उनके अत्यधिक निकट के परिपार्श्व में कोई नहीं था। सारा संघ ही उनका निकटवर्ती था। यही कारण है कि आज भी जब कभी प्रसंग चलता है, तो जिनको उनकी सेवा या दर्शनों का यत्किंचित् भी सौभाग्य प्राप्त हुआ है; श्रद्धा से उनकी आंखें सजल हो जाती हैं। उस समय श्रद्धासिक्त जो उद्‌गार प्रकट होते हैं, वे आचार्यश्री कालूगणी की महनीयता के मूर्त उदाहरण होते हैं। अनेक साधु-साध्वियों एवं श्रावक-श्राविकाओं के मुंह से जब ऐसा सुना, मुझे सहसा ऐसा लगा, उस युग में जन्म लेकर भी उनके पुण्य दर्शनों से मैं कृतार्थ न हो सका; यह मेरे जीवन की सबसे बड़ी अनुपलब्धि थी। वे भाग्यशाली थे, जो आचार्यप्रवर श्री कालूगणी के वरद हस्त की छाया में संयमी बने, श्रावक बने और संघ की सेवा में स्वयं को समर्पित किया। मेरे लिए तो यही परम आनन्द का विषय है कि पूज्यपाद आचार्यश्री कालूगणी की प्रतिच्छाया श्रद्धास्पद आचार्यप्रवर श्री तुलसीगणी के सान्निध्य में साधना-रत होता हुआ उनका आशीर्वाद प्राप्त कर रहा हूं।

युग-प्रधान आचार्यों की परम्परा में एक नई कड़ी

भगवान् श्री महावीर के युग में उनके संघ में चौदह हज़ार साधु तथा छत्तीस हज़ार साध्वियां साधना-रत थीं। इतने बड़े संघ को व्यवस्थित-अनुशासित रहने के लिए उन्होंने कार्य-विभाजन कर रखा था। सात व्यक्तियों पर अलग-अलग दायित्व थे और वे उसके अनुसार अपने-अपने कार्यों का संचालन करते थे। वे पद थे—आचार्य, गणी, गणावच्छेदक, उपाध्याय, प्रवर्तक, प्रवर्तिनी आदि। अपने-अपने दायित्वों के निर्वहन में सभी जागरूक रहते थे, अतः सारा संचालन व्यवस्थित होता था। अध्यात्म के उत्कर्ष तथा प्रभावना का कार्य स्वयं भगवान् महावीर के द्वारा ही होता था। वे तीर्थंकर थे। युग-प्रधानत्व उनमें अन्तर्भावित था।

गौतम बुद्ध के संघ में हज़ारों भिक्षुओं का समुदाय था, पर व्यवस्था-संचालन के लिए वहां कोई स्पष्ट विधि-विधान नहीं था। केवल एक द्रव्यमल्लपुत्र का उल्लेख मिलता है, जो शयनासन की व्यवस्था किया करते थे। कुछ भिक्षु तथा भिक्षुणियों पर परोक्ष दायित्व अवश्य रहा होगा और उसी से सारी व्यवस्थाएं सम्यक्तया सम्पन्न होती होंगी।

महावीर और बुद्ध, दोनों के ही संघ बहुत विशाल थे। दोनों ही व्यवस्था-संचालन से मुक्त थे; अतः जन-समुदाय को प्रेरणा देने तथा उन्हें अध्यात्म की ओर अग्रसर करने में वे सफल भी होते थे।

दायित्व तथा प्रभाव

कार्य-संचालन के लिए कुछ व्यक्तियों पर दायित्व अपेक्षित भी होता है। उससे संघीय सारणा-वारणा भली-भांति होती है और नियामकता

भी बनी रहती है किन्तु यह सारा उपक्रम संघ-व्यवस्था के लिए ही होता है, इसलिए साधारण जनता पर उसका कोई सीधा व्यापक प्रभाव नहीं पड़ता।

भगवान् महावीर की उत्तरवर्ती परम्परा में अनेक आचार्य हुए। वे संघीय सारणा-वारणा के दायित्व का निर्वहन करते हुए ज्ञान के विकास का अनूठा उपक्रम भी करते थे। उन्हें वाचनाचार्य के नाम से पुकारा गया। संघ के अग्रणी आचार्य होते हैं, पर ज्ञान-प्रसार की क्षमता सभी में समान हो ही, यह आवश्यक नहीं होता। कुछ आचार्य ही इस कार्य में कुशल होते हैं। जो आचार्य संघ को चारित्र-सम्पन्न, ज्ञान-सम्पन्न करने के साथ-साथ उसे लोकहिताय अर्पित करते, वे 'युग-प्रधान आचार्य' कहलाते।

स्वयं की योग्यताओं का विकास, लोक-हिताय नाना योजनाओं का निर्माण तथा क्रियान्वयन और समग्र संघ को तदनुरूप प्रशिक्षण प्रदान कर धर्म के सार्वदेशिक अभ्युदय के लिए अर्पित करना 'युग-प्रधान आचार्य' का मुख्य कार्य होता है। ये विशेषताएं विलक्षण होती हैं और किसी-किसी शताब्दी में ऐसे विरल आचार्य ही होते हैं। तीर्थंकरों के वर्तमान में आचार्य का प्रधान स्थान नहीं होता, पर उनकी अनुपस्थिति में सारा दायित्व ही उन पर होता है। जैन संघ ने समय-समय पर ऐसे आचार्यों का उद्भव किया है और उन्हें समाज को अर्पित भी किया है।

ऐतिहासिक पर्यवेक्षण

आचार्य अपने उत्तराधिकारी की जब नियुक्ति करते हैं, उस समय संघ के एक-एक साधु का इसी दृष्टि से अवलोकन करते हैं और उनकी क्षमताओं को तोलते हैं। मुख्य दो ही क्षमता देखी जाती हैं—चारित्रिक निर्मलता के साथ-साथ संघीय सारणा-वारणा में कुशलता तथा अध्यात्म को उत्कर्ष प्रदान करने की क्षमता। कई बार ऐसे प्रसंग भी आए हैं, जब उक्त क्षमताओं से सम्पन्न कोई साधु संघ में दृष्टिगत नहीं हुआ। तब श्रावकों में पर्यवेक्षण किया गया। वहां भी ऐसा व्यक्तित्व नहीं मिला। अन्य धर्म-सम्प्रदायों में छानबीन की गई और वैसे व्यक्तित्व प्राप्त भी

हुए। भगवान् महावीर के निर्वाण के पिचहत्तर वर्ष बाद ही ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी। तब महावीर के तीसरे उत्तराधिकारी आचार्यश्री प्रभव ने ब्राह्मण विद्वान् शय्यंभव को योग्य समझकर अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। श्री शय्यंभव ने उस समय अध्यात्म की अनूठी प्रभावना कर जन-मानस को विशेष आकर्षित किया था।

आचार्य भद्रबाहु (प्रथम) के समय में जैन संघ को बहुत बड़े संकट का सामना करना पड़ा था। प्रकृति के भयंकर प्रकोप के कारण बारह वर्ष का दुष्काल पड़ा था। जनता का साहस डोल गया था। आहार की उपलब्धि कठिन हो गई थी। उस समय जनता के साहस को थामे रखना तथा संघ को शिथिल न होने देना, दोनों ही कठिन कार्य थे। आचार्य भद्रबाहु ने दोनों ही कठिन कार्यों को किया तथा संघ में श्रुत की आराधना भी विधिवत् चलती रहे, ऐसे उपक्रम भी किए। वह समय भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद १५६ से १७० के बीच का था।

अवन्तीपति सम्राट् सम्प्रति को प्रतिबुद्ध करने का तथा धर्म के प्रकर्ष में नियोजित करने का श्रेय आर्य सुहस्ती को है। सम्राट् अशोक ने जिस प्रकार बौद्ध धर्म के सर्वांगीण अभ्युदय के लिए राजकीय समस्त साधन-सामग्री को योजित कर दिया था, आर्य सुहस्ती की प्रेरणा से सम्राट् अशोक के पौत्र सम्राट् सम्प्रति ने भी वैसा ही कर दिखाया था।

आर्य कालक ने राजा गर्दभिल्ल को भरी सभा में चुनौती देकर सबको चौंका दिया था। बहन साध्वी सरस्वती के अपहरण पर राजा को समुचित शिक्षा देने के लिए शकों को धार्मिक बनाने का महान् उपक्रम किया था। प्रतिष्ठानपुर के राजा सातवाहन, भृगुकच्छ के राजा भानुमित्र तथा उस समय के अन्य प्रसिद्ध-प्रसिद्ध राजाओं को जैन धर्म से प्रभावित करने का श्रेय आर्य कालक को ही है।

वज्रस्वामी के समय संघ पुनः प्राकृतिक संकटों से घिर गया। संघ को उस संकट से उबारने के लिए उन्हें सूझ-बूझ के साथ अथक परिश्रम भी करना पड़ा। दूसरी ओर महापुरी के बौद्ध राजा के साथ उन्हें संघर्ष में भी उतरना पड़ा। पर वह संघर्ष परोक्ष था। उसमें भी विजयी होकर उन्होंने धर्म की व्यापक प्रभावना की थी। सहस्रों बौद्धों को

महावीर के उपदेशों के प्रति आकर्षित कर सभी को चमत्कृत किया था। उनका समय वीर-निर्वाण के बाद ५४८ से ५८४ के बीच का है।

आर्य रक्षित ने ब्राह्मणवंशी होते हुए भी जैन-साधना-पद्धति का केवल अनुशीलन ही नहीं किया, अपितु उसे व्यापक बनाने में नए इतिहास का निर्माण भी किया था। आर्य दुर्बलिका पुष्यमित्र ने बौद्धों के सहवास में रहकर अपनी चामत्कारिक योग-साधना का स्थायी प्रभाव उन पर डाला था तथा हज़ारों व्यक्तियों के मानस में संयम के प्रति गहरे भाव भरे थे। इसी प्रकार नागार्जुन सूरि, जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण, उमास्वाति सूरि, देवर्धिगणी आदि अनेक नाम हैं, जो माथुरी तथा वाल्लभी युग-प्रधान पट्टावली में उल्लिखित किये गए हैं।

आठवीं शताब्दी में आचार्य हरिभद्र सूरि, ग्यारहवीं शताब्दी में जिनेश्वर सूरी, बारहवीं शताब्दी में जिनदत्त सूरि तथा मणिधारी जिनचन्द्र सूरि के नाम भी युग-प्रधान आचार्यों की परम्परा में स्मरणीय रहेंगे।

अकबर के युग में जिनचन्द्र सूरि का नाम उस शृंखला में और जुड़ जाता है। वे अकबर प्रतिबोधक के रूप में प्रसिद्ध हैं। स्वयं अकबर ने उन्हें युग-प्रधान आचार्य के रूप में सम्मानित किया था। इसी उपलक्ष में मंत्री कर्मचन्द्र ने सवा करोड़ का दान देकर विशेष उत्सव मनाया था।

युग-प्रधान आचार्यों की यशस्वी परम्परा में अनेक आचार्य होते रहे हैं, पर कुछ शताब्दियों से इस शृंखला में उल्लेखनीय नया नाम योजित नहीं हो पाया। यह शब्द केवल इतिहास व पट्टावलियों की ही धरोहर मात्र बना रहा। प्रसन्नता की बात है, गत २ फरवरी, १९७१ को यह शब्द तेरापंथ के यशस्वी आचार्यश्री तुलसी के नाम के साथ संयुक्त होकर गौरवान्वित हुआ है।

प्राचीन अनुशीलन से ऐसा ज्ञात होता है कि यह पद तत्कालीन किसी राजा, शासनाधिष्ठायक देवी तथा संघ के द्वारा दिया जाता था। वर्तमान में राजा नहीं रहे। जन-प्रतिनिधि के रूप में राष्ट्रपति ही देश की सर्वोच्च सत्ता प्राप्त प्रथम नागरिक हैं। आचार्यश्री तुलसी का 'युग-प्रधान आचार्य' के रूप में जो अभिनन्दन किया गया, उसमें जनता तथा राष्ट्रपति दोनों साथ थे। कहना चाहिए, जनता ने जो निर्णय किया, राष्ट्रपति ने

उसका स्वागत करते हुए राष्ट्र का सम्मान माना।

युग-प्रधान का दायित्व

वस्तुत: सम्प्रदाय की सुरक्षा तथा उसका विस्तार प्रत्येक आचार्य के द्वारा होता ही है। पर युग-प्रधान आचार्य यहीं तक सीमित नहीं रहते। वे सम्प्रदाय-विस्तार की अपेक्षा में अध्यात्म के उत्कर्ष को प्रधानता देते हैं और अपने भगीरथ प्रयत्नों से उससे लाखों व्यक्तियों को अनुप्राणित करते हैं। हर युग में अनास्था का वेग रहता है। अधर्म धर्म को पीछे ढकेलने के लिए तत्पर रहता है। नास्तिकता आस्तिकता के आसन को हिला देना चाहती है। अन्य भी बहुत सारे सामयिक प्रश्न उभरते रहते हैं। जो आचार्य अनास्था को आस्था में, अधर्म को धर्म में, नास्तिकता को आस्तिकता में बदलने की क्षमता के साथ-साथ सामयिक समस्याओं को यौक्तिक समाधान देकर नई स्थापनाओं में अग्रणी रहता है, वही इस गौरवपूर्ण पद को सार्थक कर सकता है।

वर्तमान युग में विज्ञान के नये प्रयोगों, आधुनिक शिक्षा के बढ़ते हुए चरणों तथा जनतंत्रात्मक राजनैतिक प्रतिस्पर्धा ने व्यक्ति को तर्कशील तथा स्वतंत्रचेता बना दिया है। यही कारण है, श्रद्धा-युग के प्रश्न क्षणिक-से प्रतीत होते थे। आज के प्रश्न उतने ही गहरे, लम्बे और भविष्य को प्रभावित करने वाले होते हैं। धर्माचार्यों में वाद-विवादात्मक शास्त्र-चर्चा की क्षमता ही केवल अपेक्षित नहीं है, अपितु युग के ज्वलन्त प्रश्नों के समाधान की क्षमता भी आवश्यक है। 'युग-प्रधान आचार्य' पर यह विशेष दायित्व आता है। प्रसन्नता की बात है, आचार्यश्री तुलसी को 'युग-प्रधान आचार्य' बनने के बाद इन क्षमताओं को उजागर करने के लिए प्रयत्नशील नहीं होना होगा, अपितु इन समस्याओं को समाहित कर ही वे इस गौरवशाली पद तक पहुंचे हैं।

आचार्यश्री तुलसी को बाईस वर्ष की अल्प अवस्था में तेरापंथ संघ जैसा अनुशासित संघ विरासत में मिला। इस विरासत का उन्होंने बहुत ही सूझ-बूझ तथा दूरदर्शिता से उपयोग किया। उनके ग्यारह वर्ष से बाईस वर्ष के बीच के ग्यारह वर्ष अपने निर्माण में लगे और बाईस वर्ष

से तेंतीस वर्ष तक के ग्यारह वर्ष संघ के आधुनिक निर्माण में। मात्र ग्यारह वर्ष की अल्प अवधि में संघ को आधुनिक रूप से प्रशिक्षित करना और भी चमत्कार था। तेंतीस वर्ष की अवस्था में अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन कर सार्वजनिक रूप से अध्यात्म की जागृति का दायित्व अपने सबल कन्धों पर लिया। सारे संघ को जन-हित में प्रयुक्त करने वाले इस शताब्दी के आप प्रथम आचार्य हैं। अन्य धर्माचार्यों को अपने सम्प्रदाय-विस्तार में अध्यात्म का उत्कर्ष नज़र आ रहा है, वहां आप सम्प्रदाय-निरपेक्ष होकर अपना तथा अपने संघ की शक्तियों का उपयोग मानवता के परित्राण के लिए कर रहे हैं। इस प्रकार युग-प्रधान आचार्यों की परम्परा में एक नई कड़ी इस युग में और जुड़ गई है और आध्यात्मिकता को अपने संरक्षण का दृढ़ विश्वास हो गया है।

अमृतपुत्र आचार्यश्री तुलसी

अणुव्रत-अनुशास्ता आचार्यश्री तुलसी देश के विख्यात धर्माचार्य हैं। उन्होंने धर्म को रूढ़ि और संकीर्णता की कारा से मुक्त कर वैज्ञानिक विधियों से प्रस्तुत करने का सफल उपक्रम किया है। एक ओर पौराणिक युग के शास्त्रों का भार ढोया जा रहा है और उनके नाम पर आधुनिक चिन्तन को ठुकराया जा रहा है; दूसरी ओर आधुनिकता को ही सर्वोत्कृष्ट मानकर शास्त्रों को झुठलाने का अनधिकृत प्रयत्न हो रहा है। यथार्थता को दोनों ही मान्य नहीं हैं। इसीलिए आचार्यश्री तुलसी ने सत्य की प्राप्ति में दोनों की ही अतियों को अहितकर माना है और शास्त्रों को आधार के रूप में स्वीकार करते हुए आधुनिक चिन्तन को व्यावहारिकता के क्षेत्र में उतारने का अभियान आरम्भ किया है। कहना चाहिए, वे चिरन्तन भारतीय अध्यात्म को समाज-व्यवस्था और जीवन-व्यवहार के साथ संगति दे रहे हैं।

भारत धर्म-प्रधान देश रहा है। अनेक सम्प्रदायों ने धर्म को ऊर्जा प्रदान करने के लिए समय-समय पर अनेक अनुष्ठान किए हैं। किन्तु धर्म का स्रोत नये चिन्तन-प्रवाह के अभाव में कुछ समय से सूख-सा गया था। वे ही क्रियाकाण्ड, वे ही तप-जप तथा वे ही प्राचीन पद्धतियां, जिनका आधार खिसक गया था, विचारशील मनुष्य को आकर्षित करने में असफल हो रही थीं। आचार्यश्री तुलसी ने उनमें वास्तविकता की प्राण-प्रतिष्ठा करते हुए नास्तिकता की परतों में दबते हुए धर्म को उभारा है। उन्होंने सम्प्रदायों में सहिष्णुता तथा सौहार्द स्थापित करते हुए मानवता की

जागरणा के लिए एक रचनात्मक कार्यक्रम प्रस्तुत किया है, जिसके माध्यम से धार्मिक पर-कल्याण के अपने उद्देश्य को वस्तुतः ही क्रियात्मक कर सकें। अणुव्रत-आन्दोलन इसका ही मूर्त-रूप है।

रचनात्मक कार्यक्रम आवश्यक

जिन धार्मिकों के पास रचनात्मक कार्यक्रम का अभाव है, वहां से साम्प्रदायिकता को उभारने के प्रयत्न होते हैं। उससे धर्म का वर्चस्व समाप्त हो जाता है। केवल पूर्ति होती है, कुछेक व्यक्तियों के अहं की। देश के समक्ष भाषा, प्रान्त, जातीयता आदि को लेकर उभरने वाले प्रतिदिन के विवादों को धार्मिकों द्वारा समाहित किया जाना चाहिए, वहां धार्मिक स्वयं साम्प्रदायिकता के चोगे को पहनकर एक समस्या बन जाते हैं। विघटन के नगाड़े दिन दूने वेग से बजते जा रहे हैं। विज्ञान की चुनौतियां भी सामने हैं। धार्मिक अपने धर्मायतनों की सुरक्षा में व्यग्र इन सब महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को ओझल किए रहते हैं। यही कारण है, आज जो जन्मना धार्मिक हैं, वे विचारात्मा से धर्म से उतने ही दूर हैं। आचार्यश्री तुलसी ने अपने ६५० साधुओं के बृहत्तम संघ को और हजारों कार्यकर्ताओं को अणुव्रत के माध्यम से इन सभी प्रश्नों के व्यावहारिक समाधान के लिए देश को समर्पित किया है। मानवता के लिए आचार्यश्री तुलसी का यह महान् अनुदान और रचनात्मक कार्य है। उन्होंने इसी उद्देश्य से देश के लगभग सभी प्रान्तों की पद-यात्रा की है। तमिलनाडु, केरल, मैसूर, आन्ध्र, महाराष्ट्र आदि प्रान्तों की उनकी ऐतिहासिक यात्रा उत्तर और दक्षिण की दूरी को पाटने में तथा करोड़ों व्यक्तियों के धार्मिक मूर्च्छित विचारों को सचेतन करने में सफल हुई है। वर्तमान के धर्माचार्यों में आचार्यश्री तुलसी ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने युग की आवाज़ को पहचाना है और उसे धर्म से अनुप्राणित करने का सबल उपक्रम किया है। आचार्यश्री तुलसी के समक्ष अपने सम्प्रदाय-विस्तार का प्रश्न नहीं है। वे तो मानवता को उजागर करने में लगे हुए हैं और इसे ही अपना सम्प्रदाय-विस्तार तथा सबसे महत्त्वपूर्ण रचनात्मक कार्य मानते हैं। यही कारण है, सभी धर्मों के लोग उन्हें श्रद्धा-भाव से देखते हैं।

आप कौन हैं ?

एक वार किसी प्रवुद्धचेता व्यक्ति ने आचार्यश्री तुलसी से पूछा—"आप कौन हैं तथा आपका कार्य क्या है ?"

आचार्यश्री तुलसी ने उत्तर दिया—"मैं सवसे पहले मानव हूं और मूच्छित मानवता को संजीवन देना ही मेरा कार्य है। मैं मानवता के उत्थान में सभी धर्मों के अभ्युदय का दर्शन पाता हूं।"

विवादों से दूर

साम्प्रदायिक विवादों से आचार्यश्री तुलसी सदा ही दूर रहे हैं। जहां कहीं ऐसा प्रसंग उपस्थित हुआ है, उन्होंने विरोध को विनोद का रूप देकर उसे सदैव निरस्त किया है और अपनी शक्ति को निर्माणकारी कार्यों में लगाया है। एक वार एक व्यक्ति आचार्यश्री तुलसी के पास आया। वोला—"मैं आपके साथ शास्त्रार्थ करना चाहता हूं।"

आचार्यश्री तुलसी ने पूछा—"क्यों ?"

आगन्तुक ने अहंभरे शब्दों में कहा—'मैं आपको हराकर विजयी होना चाहता हूं।"

आचार्यश्री तुलसी ने शान्त भाव से पूछा—"इसका प्रयोजन ?"

आगन्तुक वोला—"इससे मेरा यश वढ़ेगा।"

आचार्यश्री तुलसी ने स्मित भाव से कहा—"तो, मान लो, मैं हारा और तुम जीते। क्यों, शास्त्रार्थ हो गया न ?"

समर्थ और उदार आचार्य

चालू प्रवाह को जव उद्वर्तन दिया जाता है, तो टकराव अवश्यम्भावी होता है। कुछ व्यक्ति साथ देते हैं और कुछ व्यक्ति तनकर विरोध में खड़े हो जाते हैं। यह परम्परा सदा से चलती रही है। श्रमण भगवान् महावीर, गौतम वुद्ध, ईसामसीह, महात्मा गांधी आदि कोई भी इसके अपवाद नहीं रहे हैं। आचार्यश्री तुलसी के साथ भी वही हुआ, जो अन्य महापुरुषों के साथ होता रहा है। साम्प्रदायिक प्रतिक्रियावादियों द्वारा इन

दिनों रायपुर में भी 'अग्नि-परीक्षा' के नाम पर यही हो रहा है। प्रगतिशील धार्मिक विचारों के प्रति 'असहिष्णु व्यक्तियों का इतिहास सदा से ही इस बात का साक्षी रहा है कि धर्म के नाम पर धर्म को ही उन्होंने कलंकित किया है। आज का प्रबुद्ध वर्ग ऐसी प्रवृत्तियों को सहन नहीं कर सकेगा तथा धर्म के नाम पर जनता को भड़काने वाले व्यक्तियों को क्षमा भी नहीं कर सकेगा। आचार्यश्री तुलसी ने इन दिनों विरोध के भयंकर बावेले में भी समन्वय और सहिष्णुता पर जो बल दिया है, वह बहुत ही सामयिक है। उन्होंने कहा—"मैं अहिंसा-धर्मी हूं और समन्वय में विश्वास करता हूं। मैंने धर्म को रूढ़ि और आग्रह के रूप में स्वीकार नहीं किया है, किन्तु सत्य-निष्ठा के रूप में स्वीकार किया है। इसलिए किसी को चोट पहुंचाना या भिन्न विचारों के प्रति असहिष्णु होना न मेरा कर्तव्य है और न मैं इसे पसन्द करता हूं।"

एक अन्य वक्तव्य में उन्होंने कहा है—"मैंने मानव धर्म के मिशन को लेकर प्रयास किया है। आज बीस-पचीस वर्षों से मैं यह काम कर रहा हूं। मैं सब धर्मों की पूर्ण स्वतन्त्रता चाहता हूं। हमें धार्मिक सहिष्णुता को महत्त्व देना चाहिए।" युग यह आशा करता है कि आचार्यश्री तुलसी जैसे समर्थ और उदार आचार्य के नेतृत्व में मानवता को संरक्षण मिलेगा और उसका उत्कर्ष होगा।

अमृतपुत्र आचार्यश्री तुलसी के सत्तावनवें वर्ष-प्रवेश के अवसर पर सभी प्रगतिशील व्यक्ति उनके महान् कार्यों के प्रति अपनी असीम श्रद्धा तथा शत-शत मंगल-कामनाएं अर्पित करते हुए गौरव का अनुभव करते हैं।[1]

---

१. २ नवम्बर, १९७० को 'नवभारत टाइम्स', दिल्ली-बम्बई से प्रकाशित।

आत्मस्थ और स्थितप्रज्ञ आचार्यश्री तुलसी

पर स्व में और स्व पर में

वीतराग-भाव की साधना में प्रवृत्त साधक जन-कल्याण को भी अपनी ही साधना का मुख्य अंग मानकर प्रवृत्त होता है, तो जनता के लिए महान् सौभाग्य की बात होती है। ऐसे साधक अवतारी पुरुष होते हैं और उनकी संख्या बहुत अल्प होती है। जब-जब युग करवट लेता है, एक विशेष प्रकार की भूख जगती है और वह अपनी ओर किसी को खींच लेती है। धरा की असह्य प्यास मेघ को मूक निमंत्रण होती ही है। यही निमंत्रण मानवता की ओर से आज से बीस वर्ष पूर्व आचार्यश्री तुलसी को मिला। गुलामी से कुण्ठित भावनाएं जब जड़प्राय हो रही थीं, तो सामाजिक चेतना का अभाव था। नाना अन्धविश्वास तथा कुरूढ़ियां सभ्यता तथा महानता का चोगा पहनकर अग्रसर हो रही थीं। अध्यात्म और नैतिकता की निष्ठा अनास्था का आश्रय ग्रहण कर चुकी थी। असत्य सत्य का मुखौटा लगाकर गतिशील हो रहा था। स्थिति-पालकता सत्-चिन्तन व उसकी क्रियाशीलता के आगे अर्गला बन गई थी। वह ऐसा समय था, जो अन्धकारमय होता हुआ सघन बनता जा रहा था। आचार्यश्री तुलसी की आर्षदृष्टि ने उसका सहज अनुमान लगाया। आत्मस्थ और स्थितप्रज्ञ मानस ने साधना का विस्तार अपेक्षित माना। उसने स्व और पर की सीमाएं तोड़ीं और पर को स्व में और स्व को पर में सन्निविष्ट किया। अणुव्रत-आन्दोलन उसी की फलश्रुति है।

सबमें वे, उनमें सब

आचार्यश्री तुलसी के साथ परम्परा का एक अजस्र प्रवाह है। यह प्रवाह प्रत्येक व्यक्ति के साथ होता है। कुछ व्यक्ति उस प्रवाह के साथ स्वयं को बहाते हैं और कुछ प्रवाह को अपने साथ बहाते हैं। प्रथम कोटि के व्यक्ति स्थितिपालक होते हैं और दूसरी कोटि के व्यक्ति सृष्टा। पुरुष और महापुरुष के बीच यही भेद होता है। आचार्यश्री तुलसी ने परम्पराओं से बहुत बल अर्जित किया है और उन्हें युगीन बनाकर आनेवाले समाज के लिए उपयोगी बनाया है। उन्होंने अपने तर्क-सम्मत दृष्टिकोण से परम्पराओं की अवगणना नहीं की है, अपितु उन्हें तरास कर सम्मानित किया है। इसीलिए एक सम्प्रदाय-विशेष के आचार्य होते हुए भी वे सत्य के अनुसन्धित्सु हैं। सत्य को अपना मानकर चलते हैं। पर जो है, वह सारा ही सत्य है, यह आग्रह उनसे कोसों दूर रहा है। बहुधा सत्य का मुख हिरण्य पात्र से पिहित रहता है, पर आचार्यश्री तुलसी को यह विरासत में नहीं मिला। इसीलिए उनके सत्य का द्वार सदा से उद्घाटित है। उनका चिन्तन मुक्त है और दिशाएं स्पष्ट हैं। वे एक सम्प्रदाय के अनुशास्ता तथा धर्म व दर्शन के व्याख्याता होते हुए भी सबके हैं। उनकी समष्टि में सब हैं और सबमें वे हैं।

अध्यात्म जीवन का स्वभाव है, पर कई शताब्दियों से वह बहुत विकृत हो गया। स्वभाव और पर-भाव का लगभग भेद ही समाप्त हो गया। आश्चर्य तो इस बात का है कि विकार भी संस्कार हो गया। इसी बीच विज्ञान का उदय हुआ। उसने उस विकार की शल्य-क्रिया की। उसके हाथ सारभूत कुछ भी नहीं लगा। इसी बीच भौतिकता का अजगर मुंह फैलाकर आध्यात्मिकता को निगलने लगा। किसी भी तपस्वी के लिए यह महान् व्यथा का कारण था। पर बहुत सारे ऋषि भी अलसाये नेत्रों में थे। उन्हें स्थिति का आभास भी नहीं हो सका। बहुत सारे उसे सहला भी रहे थे। आचार्यश्री तुलसी को दोनों स्थितियां व्यथित कर रही थीं। उन्होंने अपने साधु-समाज को सजग किया और भौतिकता के अजगर के मुंह से आध्यात्मिकता की सुरक्षा की प्रेरणा दी। अणुव्रत-आन्दोलन के प्रारम्भ का

यही आधार है।

आग्रहों से मुक्त

आचार्यश्री तुलसी हर प्रकार के आग्रहों से सर्वथा मुक्त हैं, इसीलिए उनका व्यवहार सधा हुआ है। उत्तर, दक्षिण, भाषा आदि के विवादों से वे बहुत दूर हैं। उत्तर भारत ने उन्हें अपना आचार्य माना तो तमिलनाडु, केरल और मैसूर के नागरिकों ने भी उन्हें अपना माना। उत्तर भारत ने जहां उनके विचारों का सम्मान किया तो दक्षिण भारत ने भी अपनी श्रद्धा के पुष्प उन्हें चढ़ाए। दक्षिण भारत के छोटे-छोटे देहातों में भी सहस्रों की संख्या में जनता उनके दर्शनों को उमड़ पड़ती है। वह उनकी भाषा से अपरिचित है, फिर भी उनके दर्शनों से उसे अमित शान्ति अनुभव होती है। आचार्यश्री तुलसी हिन्दी में बोलते हैं, दक्षिण-प्रवासी बड़े चाव से उन्हें सुनते हैं। हिन्दी भाषा का इस प्रदेश में विरोध है, ऐसा वहां आभास भी नहीं होता। चिदम्बरम् विश्वविद्यालय में आचार्यश्री तुलसी के भाषण का कार्यक्रम रखा गया। हिन्दी-विरोधी कुछ प्राध्यापकों एवं छात्रों ने यह कहकर विरोध किया कि हम उन्हें हिन्दी में नहीं सुनेंगे। आचार्यश्री तुलसी ने उनके हृदयों को जीतना चाहा। उन्होंने संस्कृत भाषा में भाषण आरम्भ किया। उन्होंने हिन्दी का आग्रह नहीं किया। पांच-सात मिनट बाद ही विरोधी प्राध्यापकों एवं छात्रों ने स्वयं मांग प्रस्तुत की—हम भाषण हिन्दी में सुनना चाहते हैं। विरोधियों का इस प्रकार से हृदय जीतना विरल घटना है।

सेतु

आचार्यश्री तुलसी धर्माचार्य हैं। वे भारतीय दर्शनों के अधिकृत व्याख्याता हैं। राजस्थानी और हिन्दी के महान् साहित्यकार तथा योग-साधना के प्रणेता हैं। मानव-कल्याण के लिए वे अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन व संचालन करते हैं, तो जैनदर्शन तथा भारतीय दर्शनों के अनुसंधान के लिए 'जैन विश्व भारती' के नाम से एक विशेष केन्द्र भी स्थापित हो रहा है। जन-साधारण व गवेषी विद्वानों; दोनों के लिए वे उचित खुराक दे रहे

हैं। जैन चर्या-विधि को अक्षुण्ण रखते हुए अधिकांश भारत का उन्होंने परिव्रजन किया है। उत्तर और दक्षिण के बीच, विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों के बीच तथा विभिन्न विरोधी विचारधाराओं के बीच सेतु का कार्य किया है।

आचार्यश्री तुलसी ने ग्यारह वर्ष की शिशु अवस्था में जैन भागवती दीक्षा ग्रहण की, बाईस वर्ष की अवस्था में तेरापंथ जैसे वृहत् धर्मसंघ के आचार्य बने तथा चौंतीस वर्ष की अवस्था में अणुव्रत का प्रवर्तन कर समाज को नैतिकता की ओर अग्रसर किया। आचार्यश्री तुलसी ने शास्त्रों, मन्दिरों व धर्म-स्थानों की चार दीवारों में बंधे अध्यात्म का जीवन-व्यवहार में समवतार कर एक नई परम्परा का प्रारम्भ किया है। छप्पनवें जन्म-दिवस पर तेरापंथ समाज, जैन समाज ही नहीं, अपितु अध्यात्म में निष्ठा रखने वाला प्रत्येक मानव श्रद्धा से प्रणत है।

मर्यादा महोत्सव : १

साधना अपने लिए भी होती है और समाज के लिए भी। जो साधक आत्मलक्ष्यी होकर चलते हैं, वे एकान्त गिरि-गुफाओं में रहते हैं। जिन्हें अपने कल्याण के साथ-साथ समाज का कल्याण भी अभिप्रेत होता है, वे अपने समय का कुछ उपयोग एकान्त में करते हैं तथा कुछ समय के लिए समाज के बीच भी रहते हैं। यह साधना उभयलक्ष्यी होती है। भगवान् महावीर ने साधना के दोनों प्रकारों पर वल दिया है। इसीलिए साधना के लिए एक ओर जहां उन्होंने अरण्य व शून्यवास का विधान किया, वहां संघवद्ध साधना-पद्धति पर भी वल दिया।

आत्म-लक्ष्यी साधक के लिए अनेक विधि-विधानों की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि उसकी क्रिया से दूसरा व्यक्ति इतना प्रभावित नहीं होता। संघवद्ध साधकों का प्रभाव एक-दूसरे पर पड़ता है। इसीलिए भगवान्श्री महावीर ने श्रमणों के लिए जो विधि-विधान किया, उसकी पुष्टि के लिए समय-समय पर उनके उत्तरवर्ती आचार्यों ने अनेक संघीय विधान किए। उसका उद्देश्य एक ही था, साधना की पवित्रता वृद्धिगत हो।

साधकों के मौलिक नियम शाश्वत हैं। पारम्परिक नियम सामयिक होते हैं। उनमें समय-समय पर परिवर्तन भी होता है। किन्तु यह परिवर्तन शिथिलता का निमित्त नहीं होता। साधना को विशेष कसने के लिए और उसमें निखार लाने के लिए वह प्रयत्न होता है।

परिस्थितियों से प्रभावित साधना

भगवान् महावीर के बाद बहुत वर्षों तक जैन-साधना पद्धति ज्यों की त्यों चलती रही। किन्तु, फिर वह युग के झंझावातों से बच नहीं पायी। क्रमशः वह परिस्थितियों से प्रभावित हुई और क्षीण होती चली गई। शिथिलता का प्रसार बहुत सुगमता से होता है। यही कारण था, जैन सम्प्रदायों पर भी उसका असर हुआ। अपरिग्रह के उपदेशक प्रत्यक्ष या परोक्ष परिग्रह के जाल में फंस गए। असंग्रह के साधक उपाश्रय, स्थानक, मकान तथा पुस्तकों के संग्रह में आकण्ठ मग्न हो गए। अनुशासन को धर्म का मुख्य आधार माननेवाले अहं के उभर जाने से अनुशासनहीन हो गए। अपने बच्चों की ममता से मुंह मोड़नेवाले स्वेच्छाचारी बनने लगे। उस समय आचार्यश्री भिक्षु आए। उन्होंने युग के प्रवाह में बही जा रही साधना को एक सबल आधार प्रदान किया। वह समय था आज से दो सौ दस वर्ष पूर्व का।

स्थिति-पोषक व आत्म-गवेषक

आचार्यश्री भिक्षु का लक्ष्य आत्म-साधना का था। कोई उनका साथ दे या न दे, यह उन्होंने कभी न सोचा। उनका साहस अद्‌भुत था। उनकी निष्ठा अद्वितीय थी। अन्तःप्रेरणा उनके मार्ग को आलोकित करती थी। तपस्या, चिन्तन, शास्त्रों के अनवरत स्वाध्याय तथा मनन से उन्होंने अनेक अनुभव प्राप्त किए। साधना के नाम पर शिथिलाचार का पोषण उनकी प्रकृति के विरुद्ध था। उन्हें लगता था, उनके स्वर को उदात्त करने वाला कोई दूसरा नहीं होगा। वे सत्यद्रष्टा योगी थे। उन्हें किसी के साथ की इतनी अधिक अपेक्षा भी नहीं थी। उन्होंने अपनी अनुभूत वाणी का उच्चारण किया। वह एक नया उद्‌घोष बना। स्थिति-पोषक साधु बौखला उठे। आत्म-गवेषक अन्तर्मुख हुए। पर उनकी संख्या न्यून थी। स्थिति-पोषक साधु आत्म-गवेषकों की गति को कुण्ठित करने के लिए प्रयत्नशील हुए। आचार्य भिक्षु ने परिस्थिति को परखा। अनालोचित ही संघर्ष का उद्‌भव हो गया। विघ्नों और बाधाओं ने आचार्य भिक्षु तथा उनके

साथियों को विचलित करने का प्रयत्न किया। पर, अन्तर की आवाज़ मन्द नहीं हो पायी। उसमें वही उदात्त स्वर मुखर हो रहा था।

तेरापंथ का उद्भव

घर्षण ज्योति को उत्पन्न करता है। विघ्नों और बाधाओं ने आचार्य भिक्षु के साहस को बढ़ाया। वे निर्धारित लक्ष्य की ओर चल पड़े। किसी सम्प्रदाय को जन्म देना वे नहीं चाहते थे। उनके सहवर्ती साधुओं ने उनसे बहुत बार आग्रह भी किया। कई वर्षों तक उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। जनता में स्वतः ही उनके विचार फैले। उनके साधना-क्रम ने जनता में एक आकर्षण उत्पन्न किया। न चाहते हुए भी उन्हें उपदेश के क्षेत्र में उतरना पड़ा। 'तेरापंथ' उसी की फलश्रुति है।

जब अनेक व्यक्ति उनकी साधना-पद्धति में दीक्षित होने लगे तो उन्हें व्यवस्थित मार्गदर्शन करना उनके लिए आवश्यक हो गया था। अन्य संघों की भांति वे भी अपने संघ को नियति के भरोसे पर छोड़ देना नहीं चाहते थे। उन्होंने संघ को सुव्यवस्थित करने के लिए मर्यादाएं (विधान) बनाईं। उनकी सुदृढ़ मान्यता थी कि जब तक संघ में एक आचार्य, एक समाचारी (आचार) और एक प्ररूपणा नहीं होगी, साधना अस्खलित रूप से हो नहीं सकती।

व्यक्ति में अहं उभरता रहता है। स्वयं पदेन सर्वोच्च बनने का वह प्रयत्न करता है। किसी की भी अधीनता स्वीकार नहीं करना चाहता। 'मैं महान्' की यह भावना ही अनुशासनहीनता को उत्पन्न करती है। अनुशासन साधना के लिए सजगता है, अतः उन्होंने मर्यादा की—"सभी साधु एक आचार्य की आज्ञा में रहें। अपना-अपना शिष्य न बनाएं।" इसी मर्यादा का सुफल है कि तेरापंथ दो सौ वर्षों की लम्बी अवधि के पश्चात् भी सुव्यवस्थित एक ही श्रृंखला में चला आ रहा है, जब कि अन्य धर्म-संघों में बहुत शीघ्र ही विश्रृंखलता फैलकर विघटन आरम्भ हो जाता है।

विश्रृंखलता एक ओर जहां विघटन को उत्पन्न करती है, वहां दूसरी ओर आचार-क्रिया में अनेकरूपता और मान्यताओं व प्ररूपणाओं में

आकाश-पाताल का अन्तर भी कर देती है। इसीलिए तेरापंथ में आचार्य को सर्वोपरि मानने के साथ-साथ आचार-क्रियाओं की विभिन्नता और मान्यताओं व प्ररूपणाओं की अनेकता को भी समाप्त किया गया। संघ-वद्ध साधना इन तीन आधारों पर आगे वढ़ी और वढ़ती जा रही है।

मर्यादा-महोत्सव का आरम्भ

आचार्यश्री भिक्षु ने वि० स० १८३२ में सर्वप्रथम मर्यादाओं का निर्माण किया। उसके वाद समय-समय पर उन्होंने उनमें परिवर्द्धन भी किया। अपने जीवन की संध्या में वि० स० १८५९ में उन्होंने सभी मर्यादाओं का व्यवस्थित संकलन किया और उसे तेरापंथ के विधान के रूप में प्रस्तुत किया। वह दिन माघ शुक्ला सप्तमी का था।

तेरापंथ के चतुर्थ आचार्यश्री जयाचार्य ने वि० स० १९२१ को उस मर्यादा-पत्र के आधार पर संघ को एकता का विशेष आह्वान किया। फल-स्वरूप मर्यादा महोत्सव का आरम्भ हुआ। इस दिन के अवसर पर तेरापंथ के अधिकांश साधु वर्तमान आचार्य के नेतृत्व में एक स्थान पर एकत्रित होते हैं। आचार्य उनसे गत वर्ष के कार्यों का लेखा-जोखा लेते हैं एवं आगामी वर्ष के लिए उन्हें कार्यक्रम प्रदान करते हैं। वर्तमान में तेरापंथ संघ में साढ़े छः सौ से अधिक साधु-साध्वियां हैं, जो सवा सौ दलों में विभाजित होकर देश के सुदूर प्रदेशों में विचरण करते हैं। आचार्यश्री तुलसी इस संघ के नवें अधिशास्ता हैं। कौन साधु कहां है, उसे कहां रहना है और क्या करना है, इसका निश्चय आचार्यश्री तुलसी ही करते हैं। गुरु-शिष्य के वात्सल्य और विनय का यह एक अद्भुत उदाहरण है। इस महोत्सव के अवसर पर अधिकतम साढ़े पांच सौ साधु एकत्रित हो जाते हैं। सभी साधुओं की पारस्परिक एकता और अपनत्व एक-दूसरे में संघीय भावना का विकास करने के साथ-साथ उन्हें साधना की विशेष मंजिल की ओर वढ़ाते हैं। 'संघ के लिए सव और सवके लिए संघ' यह क्रियान्वित होता है। चतुर्मास की समाप्ति पर सभी साधु एकत्रित होने लगते हैं और माघ शुक्ला सप्तमी के वाद फिर वे सुदूर प्रदेशों के लिए पद-यात्रा से प्रस्थान कर देते हैं।

माघ शुक्ला सप्तमी

माघ शुक्ला सप्तमी को संघ एक स्थान पर एकत्रित होता है। सैकड़ों साधु-साध्वियों और सहस्रों व्यक्तियों के जन-समुदाय के बीच आचार्य श्री भिक्षु द्वारा लगभग पौने दो सौ वर्ष पूर्व लिखित मर्यादा-पत्र का वर्तमान आचार्य वाचन करते हैं और साधु-साध्वी वृन्द उन लिखित मर्यादाओं के अनुसार चलने की अपनी प्रतिज्ञा को दुहराते हैं और अपनी निष्ठा व्यक्त करते हैं। इस अवसर पर अन्य वक्ता भी भाषणों और कविताओं के द्वारा अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हैं। आचार्यश्री तुलसी साधु-साध्वियों के सिघाड़ों (दलों) को आगामी विहार के लिए पृथक्-पृथक् गांवों तथा प्रान्तों के लिए निर्देश देते हैं। वे जिस उत्साह से आते हैं, उसी उत्साह से आगामी वर्ष के कार्य को सम्पन्न करने के लिए प्रस्थान कर देते हैं। सन्त-जनों के इस सामूहिक जीवन को देखकर इस सूक्ति का स्मरण हो आता है: 'संगच्छाध्वं संवदध्वं संवोमनांसि जानताम्'—अर्थात् तुम सबकी एक राह, एक बात और एक चिन्तन हो।[1]

---

१. २६ जनवरी, १९६९ 'राष्ट्रदूत' (जयपुर) में प्रकाशित

मर्यादा महोत्सव : २

एकान्त-विहारी साधकों को सुनियोजित संघ-बद्ध कर लोक-हिताय प्रयुक्त करने की स्वर्णिम परिकल्पना आज से लगभग सवा दो सौ वर्ष पूर्व आचार्यश्री भिक्षु ने की थी। यद्यपि उस समय भी अलग-अलग धर्म-संघ थे और उनके अपने नाना कार्यक्रम भी थे, किन्तु संघीय अनुशासन की शिथिलता उनकी प्राणवत्ता में बाधक बन रही थी। कथन में वे संघ थे और वास्तविकता में व्यक्ति-व्यक्ति सब स्वतन्त्र थे। उनके बीच नियामकता का अभाव था, इसीलिए अध्यात्म का वर्चस्व तिरोहित-सा हो रहा था। आचार्यश्री भिक्षु इसे वैयक्तिक साधना तथा समाज, दोनों के लिए ही हानिकारक मानते थे। उनका मन्तव्य था, अनुशासन की खाद पाकर ही साधना पल्लवित हो सकती है और वह स्व-पर कल्याण में योगभूत हो सकती है। आचार्य के अनुशासन की अवहेलना स्वयं की अवहेलना है और स्वयं की अवहेलना करनेवाला साधना के क्षेत्र में सफल नहीं हो सकता।

विधान क्यों और क्या ?

आचार्यश्री भिक्षु निस्पृह तथा समत्वयोगी थे, पर जिन व्यक्तियों को वे साधना के क्षेत्र में अग्रसर करना चाहते थे, वे इतने सधे हुए नहीं थे। उन्हें सब प्रकार से साधना था। समय-असमय उनका अहं उनकी स्वेच्छाचारिता को बल प्रदान कर रहा था। अनुशासन की धुरी पूर्णतः कमज़ोर हो चुकी थी। सर्वप्रथम जिन तेरह साधकों ने उनका अनुगमन

किया, वे भी सब संस्कारों में पूर्ण नहीं थे। एक आदर्श में ढालकर समाज के समक्ष उन्हें वे उदाहरण-रूप में प्रस्तुत करना चाहते थे। सहवर्ती साधकों के पूर्व-संस्कार कुछ भिन्न थे। उन्हें मोड़ देना सुगम कार्य तो नहीं था, किन्तु वे इसमें अहर्निश प्रयत्नशील रहे। निराशा ने उनके मार्ग को कंटकित नहीं किया। पन्द्रह वर्ष तक वे नाना प्रयोग और साधकों की मनःस्थितियों का सूक्ष्म पर्यालोचन करते रहे। नाना परिवर्तन एवं परिवर्धन उनकी अनुभव-प्रौढ़ता से प्रसूत हुए और उन्होंने वि० सं० १८३२ में सबसे पहले संघीय विधान का प्राक्कलन किया, जो मर्यादाओं के नाम से पुकारा जाने लगा। उसकी कुछ मुख्य धाराएं थीं :

१. सभी साधु-साध्वियां एक आचार्य की आज्ञा में रहें।
२. अपना-अपना शिष्य न बनाएं।
३. विहार-चतुर्मास आचार्य के आदेश से करें।
४. आचार्य जिसे अपना उत्तराधिकारी घोषित करे, सभी साधु उसे सहर्ष स्वीकार करें।
५. आचार्य भी योग्य व्यक्ति को दीक्षित करे। दीक्षित करने के बाद भी यदि कोई अयोग्य प्रमाणित हो जाए, तो उसे तत्काल संघ से निर्वासित कर दे।

समर्पण-भाव का विकास

बहुधा देखा जाता है, व्यक्ति परिवार, सम्पत्ति व सत्ता की आसक्ति से बहुत शीघ्र ही ऊपर उठकर साधना में अग्रसर हो जाता है, किन्तु गुरुत्व के व्यामोह से वह कठिनता से ही पराङ्मुख हो पाता है। साधना में सबसे बड़ी बाधा यही होती है। आचार्यश्री भिक्षु ने इसका अनुभव किया और सर्वप्रथम इस पर ही प्रहार कर समर्पण-भावना को साधना की उर्वर भूमि के रूप में विकसित किया। परिणामतः उनके विशाल संघ (तेरापंथ) में दो सौ वर्षों से एक ही आचार्य के नेतृत्व की परम्परा अविच्छिन्न चली आ रही है तथा वर्तमान में भी ६५० साधु-साध्वियां अपने एकमात्र अनुशास्ता आचार्यश्री तुलसी के नेतृत्व में साधना-रत हैं। उनमें आचार्य बनने की कोई प्रतिस्पर्धा नहीं है। संघीय अनुशासन को वे

सर्वोपरि मानकर चलते हैं। आश्चर्य इस बात का है, देश के सुदूरवर्ती प्रदेशों में तीन-तीन, चार-चार, पांच-पांच के दलों में विभाजित विहरणशील ये श्रमण आचार्यश्री तुलसी के अनुशासन से ही सब प्रकार के कार्यों का संचालन करते हैं।

संघ का नामकरण

आचार्यश्री भिक्षु अपने संघ का कोई भिन्न नामकरण करना नहीं चाहते थे, इसीलिए बहुत दिनों तक कोई नाम प्रचलित भी नहीं हुआ। किन्तु जोधपुर में तेरह श्रावकों की धार्मिक सहचर्या तथा साधुओं की तेरह संख्या को लक्षित कर एक कवि ने 'तेरापंथी' नामकरण कर डाला। आचार्यश्री भिक्षु वहां नहीं थे। जब उन्हें यह ज्ञात हुआ, तत्काल अपने आराध्य भगवान् महावीर को नमस्कार करते हुए कहा—"प्रभो! यह तेरा—तुम्हारा ही पंथ है। मैं तो एक राही मात्र हूं।" साथ ही इस शब्द का सार्वजनीन अर्थ—बोध देते हुए कहा गया—"मानव! यह तेरा पंथ—मार्ग है। तू इसका अनुशरण कर।"

संघ के नामकरण तथा वि० सं० १८३२ में विधान के प्राक्कलन के अनन्तर भी आचार्य भिक्षु के समक्ष अनेक समस्याएं उभरीं। सैकड़ों वर्षों के चालू प्रवाह को मोड़ देने का कार्य सूझ-बूझ व अध्यात्म-प्रवणता के साथ-साथ समय की भी अपेक्षा रखता था। बीच-बीच में विधान की अनेक नई धाराओं का निर्माण होता रहा तथा संशोधन भी चालू रहा। वि० सं० १८५९ माघशुक्ला सप्तमी को आचार्यश्री भिक्षु ने विधान को अन्तिम रूप दिया तथा संघ के वर्तमान साधुओं को स्वीकृत करा उस पर उनके हस्ताक्षर भी करवाए।

बहुत वर्षों तक संघ का सुचारू रूपेण कार्य चलता रहा। वि० सं० १९२१ में तेरापंथ के चतुर्थ अनुशास्ता श्री मज्जयाचार्य ने उसी परम्परा में एक अनूठी कड़ी और जोड़ी। तब तक सारा संघ एक साथ नहीं मिलता था। जब-तब जिस दल को अवकाश मिलता या इच्छा होती, आचार्य के पास पहुंच जाते थे। श्री जयाचार्य ने एकरूपता तथा सार्वजनीन उपयोगिता को लक्षित कर संघ का वर्ष में एक बार मिलना अत्यन्त

आवश्यक माना। सुदूरवर्ती प्रदेशों में पद-यात्रा से विहरणशील साधु-साध्वियों के एक स्थान पर एकत्रित होने में अनेक कठिनाइयां थीं; किन्तु कुछ वर्षों के प्रयोगों ने उन्हें समाहित कर दिया। वि० सं० १९२१ से आज तक १०७ वर्षों से माघ शुक्ला सप्तमी को संघ एकत्रित होता है और अपनी मर्यादा (विधान) के प्रति दृढ़ आस्था व्यक्त करता है; अतः वह 'मर्यादा महोत्सव' के नाम से पुकारा जाता है। हज़ारों की परिषद् में आचार्यश्री तुलसी मर्यादाओं का वाचन करते हैं तथा साधु-साध्वियां पंक्तिबद्ध खड़े होकर उसे दुहराते हैं। वह दृश्य नयनाभिराम होने के साथ-साथ बहुत अधिक प्रेरक भी होता है।

भावी कार्यक्रम

चतुर्मास की समाप्ति (कार्तिक पूर्णिमा) के बाद साधु-साध्वियों के दल, जहां आचार्य होते हैं, उस ओर स्वतः चल पड़ते हैं। मिगसर की समाप्ति तक लगभग संघ एकत्र हो जाता है। सैकड़ों साधुओं की उपस्थिति से जहां जनता लाभान्वित होती है, वहां अनेक गोष्ठियों के माध्यम से साधु-साध्वियों का पारस्परिक विचार-विनिमय एक-दूसरे को अनुभवों की प्रौढ़ता प्रदान करता है। आचार्यश्री तुलसी के समक्ष दल का अग्रणी अपने कार्यों का लिखित ब्यौरा प्रस्तुत करता है। आचार्य उनका सूक्ष्मता से अवलोकन करते हैं तथा माघ शुक्ला सप्तमी को मर्यादाओं के प्रति आस्था प्रकट करने के अनन्तर दलों के भावी कार्यक्रम की उद्घोषणा करते हैं। दल का अग्रणी खड़ा होकर विनम्रता से उसे शिरोधार्य करता है। कुछ दिन के बाद साधु-साध्वियां वहां से प्रस्थान करते हैं और अपने-अपने केन्द्रों में पहुंच जाते हैं। वहां वे जनता में अध्यात्म के संस्कार अंकुरित करने का प्रयत्न करते हैं।

कितने सुयोग का प्रसंग है कि तारीखों से सम्बद्ध गणतन्त्र दिवस तथा तिथियों से सम्बद्ध 'मर्यादा महोत्सव' प्रतिवर्ष लगभग सप्ताह की अवधि में ही आते हैं। दोनों का ही मूल उत्स विधान है। एक राष्ट्रीय पर्व है तथा दूसरा आध्यात्मिक। १०७ वर्ष की उज्ज्वल परम्परा को अपने में समेटे सांस्कृतिक पर्व के रूप में 'मर्यादा महोत्सव' सैकड़ों साधु-साध्वियों तथा

लाखों श्रद्धालुओं में सामुदायिक एकता को परिपुष्ट कर रहा है। आशा की जाती है, यह 'मर्यादा महोत्सव' अपनी गौरवमयी परम्परा को अक्षुण्ण रखता हुआ आध्यात्मिक उत्कर्ष का उत्प्रेरक बनेगा।[1]

---

१. २ फरवरी, १९७१ को 'हिन्दुस्तान' नई दिल्ली में प्रकाशित

अन्तर और बाह्य में एक रूप

भगवान् श्री महावीर की एक सूक्ति है : 'जहा अन्तो, तहा बाहिं; जहा बाहिं, तहा अन्तो'—साधक अन्तर् और बाह्य में सम होता है। अध्यात्म का गवेषी अपने मन, वचन और कर्म में कभी द्वैध नहीं होने देता। उसका चिन्तन, बुद्धि और प्रवृत्ति अभेद से संवलित होती है। महात्मा और सामान्य आत्मा की विभेदक रेखा मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियों की एकरूपता तथा अनेकरूपता ही बनती है। पर, आज के युग में उसे ही चतुर कहा जाता है, जो वाणी और कर्म को भिन्न-भिन्न दिखा सके तथा चिन्तन से प्रतीप ही प्रवृत्ति कर सके। उन व्यक्तियों की संख्या विरल ही है, जो द्वैध को पाटकर स्वयं को स्थिरचित्त रख सकें। पं० कुंजबिहारीजी इस युग के चतुरों से सर्वथा भिन्न थे। उनके निकटतम साथियों तथा अन्य सैकड़ों व्यक्तियों ने भी उन्हें कभी द्विरूप नहीं देखा।

लगाव और दुराव से दूर

पं० बिहारीजी के निकट परिकर में जहां छात्रों, श्रमिकों, अध्यापकों व साहित्यकारों की संख्या हजारों में है, वहां श्रीमन्तों की संख्या भी कम नहीं है। अधिकांशतः श्रीमन्तों को आकर्षित करने वाला श्रमिकों का श्रद्धेय नहीं बनता, पर बिहारी जी इसके अपवाद थे। वे सबके थे और सब उनके थे। उन्होंने अपनी परिधि में सबको समाहित किया था। अपनत्व और परत्व की भाषा में वे किसी से लगाव-दुराव नहीं रखते थे।

उनका कोई अमित्र नहीं था। वे किसी के मित्र नहीं थे। उनका चिन्तन, भाषा-प्रयोग व व्यवहार मित्र-अमित्र की परिधि से मुक्त था। मित्रता किसी अव्यक्त अमित्रता की प्रतिध्वनि होती है। वे इसे सुनने के आदी नहीं थे। यही कारण था, वे किसी सीमा से घिरे नहीं थे। जीवन-पर्यन्त [illegible] रहे और अपने हर सांस को उन्होंने समर्पण के साथ अनुस्यू[illegible]।

श्रद्धा, समर्पण और परामर्श

विहारीजी के शिष्यों की संख्या सैकड़ों-हज़ारों में है। उनके मित्रों की संख्या भी उससे अधिक ही है। मैंने अपने चूरू चतुर्मास (वि० सं० २०२३) में उन्हें निकट से देखा। ऐसा लगा, चूरू के नागरिकों को उन्होंने अपने स्नेहिल सूत्र में इस तरह आवद्ध कर रखा है कि वह वन्धन सभी के लिए आनन्दप्रद हो रहा है। साथ ही यह भी अनुभूति होती थी कि वच्चों, युवकों व वृद्धों पर समान रूप से छा जाने वाला वह एक अनूठा व्यक्तित्व था। वच्चों की अमित श्रद्धा जहां उनकी ओर उमड़ती थी, तो युवक भी उनके प्रति सहज समर्पित थे। वुजुर्ग उन्हें अपने परामर्शक के रूप में मानते थे, तो साथी उन्हें अपना मार्गदर्शक। सभी वर्गों को आकर्षित करने का अनूठा जादू विहारीजी की अपनी निजी सम्पत्ति थी, उन्हें विरासत में प्राप्त नहीं हुई थी।

वे मनसा, वाचा, कर्मणा अणुव्रती थे। भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी गहरी निष्ठा थी। त्याग-परम्परा को वे जीवन के लिए अनिवार्य मानते थे। साधु-समाज को वे सजग प्रहरी के रूप में मानते हुए सदैव अपनी श्रद्धा अभिव्यक्त करते थे। वे अपने को लघु मानते थे, पर जनता ने उन्हें कभी लघु नहीं माना।

रहस्यभरी मुसकान

वहुधा व्यक्ति अपनी असफलता को देखकर निराश हो जाता है। उसे चिन्ताएं घेर लेती हैं। मायूसी उनका दामन नहीं छोड़ती। परिणामत: असफलता का चीर लम्वा होता चला जाता है। व्यक्ति निराशा से ऊपर

उठकर कुछ सोच सके; ऐसा वहां कुछ भी नहीं बच पाता। निराशा, चिन्ता और मायूसी की परछाईं मनुष्य से कोसों दूर होनी चाहिए थी, पर इस युग में उन्होंने अपने आंचल में उसे (मानव को) समेट लिया है। मानव भूल जाता है इस सूक्त को : **'जिन घड़ियों में हंस सकते हैं, उन घड़ियों में रोये क्यों ?'** कुछेक व्यक्ति इसके अपवाद भी होते हैं। असफलता उन्हें दबा नहीं सकती, कभी-कभी विस्मृति से वह उनके अनुगत भले ही हो जाए। तब निराशा, चिन्ता और मायूसी भी उनसे रूठी हुई-सी रहती है। अपनी रहस्यभरी मुसकान से वे उसे जीत लेते हैं। पं० कुंजविहारी के चेहरे पर स्मित मुसकान सदैव रही। व्यग्रता ने उनके पास आने का साहस नहीं किया। विहारीजी इससे आगे की कला में भी निष्णात थे। वे अपने पास बैठे हुए व्यक्ति को भी सचिन्त नहीं रहने देते थे। दो-चार क्षणों में ही वे वातावरण को स्मित हास्य में परिवर्तित कर देते थे। प्रत्येक व्यक्ति उस मुसकान में पड़कर अपने दुःख-दर्द को भी भूल जाता था। विहारीजी को देखकर मुझे यह पद्य बहुधा याद आता था :

जब तुम आए जगत में जगत हँसा तुम रोए।
ऐसा काम कोई कर चलो, तुम हँसमुख, जग रोए।।

मुसकान अन्तिम क्षण तक भी उनके साथ रही। उनके निकटस्थ व्यक्तियों ने बताया, आत्मा के प्रयाण के बाद भी उनकी पार्थिव देह विहंसती ही रही। मुसकान का उनके साथ यदि तादात्म्य नहीं होता, तो यह प्रसंग भी नहीं बन पाता।

○ ○ ○